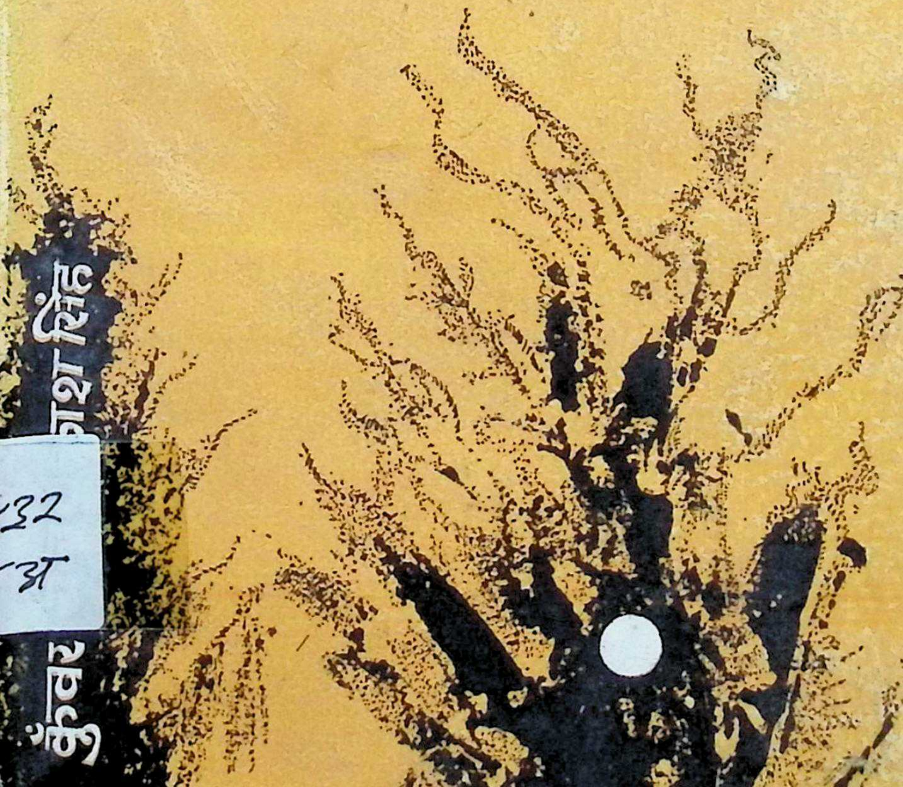
अग्नि-परीक्षा



कुंवर ...काश सिंह

'अग्नि-परीक्षा' विख्यात नाट्यशास्त्री एवं नाट्य-शिल्पी कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह की एकांकी रचना-परम्परा की एक और महत्त्वपूर्ण कड़ी है। आठ एकांकियों का यह संकलन भारतीय इतिहास की उस सांस्कृतिक सम्वेदना से सम्पृक्त है, जो राष्ट्रीय जीवन-चेतना को विकसित करने में समर्थ है। आचार्य चाणक्य, सूर, तुलसी, रहीम, भूषण, वेदव्यास, कालिदास और वाल्मीकि जैसे राष्ट्रीय जीवन-चेतना के कीर्तिमानों की मूल्य-साधना से सम्बद्ध इतिहास के अनेकों विस्मृत प्रसंगों का सर्जनात्मक प्रयोग और उसमें निहित रचनाकार की मूल्य दृष्टि की कलात्मक अभिव्यक्ति संकलन की केन्द्रीय गरिमा है, जिसके माध्यम से मूल्यो की संक्रान्तिकालीन हताश-घटिका में जीवन का अमृत मन्त्र फूंका गया है। इतिहास, पुराण एवं साहित्य के कलात्मक पुनर्निर्माण की यह सर्जनात्मक प्रक्रिया अपना प्रतिमान स्वयं है। नैतिक मूल्यों की टकराहट के इस युग में 'अग्नि-परीक्षा' एकांकी की दृष्टि की व्यापकता और पूर्णता को सर्वथा केन्द्रीय महत्त्व प्रदान कर संकलन के सभी एकांकियों में इसी दृष्टि के अन्तःसूत्र को पिरोने का प्रयत्न किया गया है। परिणामतः इस संग्रह में राष्ट्र के 'मूलभूत आदर्श' एक स्थान पर सूत्रबद्ध न होकर सम्पूर्ण संकलन के आन्तरिक संगठन में व्याप्त है। सारा बल इन एकांकियों में अनुभव और अर्थ के संश्लेष को सिद्ध करने पर दिया गया है, जिसमें अर्थ-मीमांसा के

[शेष दूसरे फ्लैप में]

अग्नि-परीक्षा

कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह

अनुपम प्रकाशन

प्रकाशक :

अनुपम प्रकाशन

पटना-६

मूल्य : पुस्तकालय-संस्करण : पाँच रुपये

विद्यार्थी-संस्करण : तीन रुपये पचास पैसे

प्रथम संस्करण : १९७२

मुद्रक :

एकेडेमिक प्रेस

पटना-६

आदर्श के प्रति समर्पित

श्रीमती रामदुलारी सिन्हा

(बिहार-सरकार की मंत्रि-परिषद् की वरिष्ठ सदस्या)

के यशोवर्धन करों में

आत्मनिवेदन

मेरे कुछ पहले के लिखे हुए और कुछ सर्वथा नवीन एकांकी 'अग्नि-परीक्षा' के माध्यम से साहित्य-देवता के द्वार पर मेरी विनम्र अर्चना के रूप में प्रस्तुत हैं। यदि इनके द्वारा सुधीजनों को आंशिक रूप में भी राष्ट्र के मूलभूत आदर्शों की कलात्मक अभिव्यक्ति आस्वाद्य हो सकी, तो मैं अपना श्रम सार्थक समझूंगा।

अस्वस्थ हो जाने के कारण अन्तिम तीन-चार नाटकों के प्रूफ-संशोधन का कार्य मैं स्वयं नहीं कर सका, इसलिए उनमें कुछ अशुद्धियाँ रह गई हैं। विद्वान् पाठकों से अनुरोध है कि वे उन्हें सुधार कर पढ़ें।

—लेखक

क्रम

१. आचार्य चाणक्य

पात्र-परिचय

आचार्य चाणक्य : ऋषिकल्प महान् राजनीतिज्ञ एवं राष्ट्र-निर्माता

चन्द्रगुप्त : भावी भारत-सम्राट्

सिंहरण : मालव वीर

व्याघ्रराद : शिवि गणराज्य के प्रमुख

सिकन्दर : यवन-सम्राट्

सेल्यूकस : सिकन्दर का सेनापति

त्रिविक्रम : मालव के गणप्रमुख

विजयकीर्ति : मालव-गण के सेनापति

अलका : मालव विराङ्गना

महादण्डपाल

गुल्मनायक, भारतीय और यवन-सैनिक, मालव के नारी-सैनिक आदि।

प्रथम दृश्य

(शिवि-गणराज्य का मन्त्रणा-गृह। मध्य में एक कुशासन-मण्डित आसन्दी पर आचार्य चाणक्य बैठे हैं। उन्नत ललाट, आयत दृग, पुष्ट देहयष्टि, सहज-सौम्य मूर्त्ति, पृष्ठ पर खुली हुई प्रलम्ब पीन शिखा और मुखमण्डल पर गम्भीर चिन्तन की छाप। उनके सामने बिछे हुए कौशेय आस्तरण पर गम्भीर मुद्रा में शिवि-गणराज्य के प्रमुख व्याघ्रपाद, वहाँ के महादण्डपाल, कुमार चन्द्रगुप्त, मालव कुमारी अलका और कुमार सिंहरण बैठे हैं। महादण्डपाल सैनिक वेश में हैं और नील परिधान धारण किये हुए हैं। गणप्रमुख, चन्द्रगुप्त और सिंहरण के शरीर पर श्वेत और पीत परिधान हैं, शिर पर रत्नजटित शिरोभूषण, उन्मुक्त केश, पीवर मांसल स्कन्ध देश, पुष्ट वक्षःस्थल, प्रलम्ब बाहु और कटि-बन्ध में खड्ग। अलका का बाना केसरिया है, हाथ में बरछी और अलकें खुली हुईं। सबकी मुद्रा गम्भीर है।)

चाणक्य : (दीर्घनिश्वास के साथ सिंहरण से) तो तुमने अपनी आँखों से सिकन्दर और पुरु का युद्ध देखा ?

सिंहरण : हाँ आचार्य, आपके आदेश से मैं आदि से अन्त तक इस युद्ध में पुरु के सैनिकों के बीच उपस्थित रहा। उनके साथ कन्धे-से-कन्धा मिलाकर मैंने यवन-सैनिकों से युद्ध किया।

चाणक्य : पुरु की पराजय इस आर्यराष्ट्र का महान् दुर्भाग्य है। इसकी आशंका मुझे पहले से ही थी, किन्तु पुरु ने मेरे परामर्श पर ध्यान ही नहीं दिया।

चन्द्रगुप्त : गुरुदेव ! आपने तो उसके सामने यह प्रस्ताव रखा था कि वह आर्य-राष्ट्र की सम्मिलित वाहिनी का नेतृत्व करे और आपकी प्रेरणा से पंचनद के अनेक जनपद सिकन्दर के विरुद्ध पुरु के अभियान में

सम्पूर्ण सहयोग देने के लिए कृत-संकल्प थे। परन्तु अभिमानी पुरु ने आपके प्रस्ताव का उपहास किया, और अकेले ही सिकन्दर को पराजित करने का स्वप्न देखता रहा।

चाणक्य : चन्द्रगुप्त! इसे सदैव स्मरण रखो कि स्वार्थी और अभिमानी शासक एवं राजनीतिज्ञ देश के सबसे बड़े आन्तरिक शत्रु होते हैं। उन्हीं के अविवेक से राष्ट्रों पर बड़ी-बड़ी विपत्तियाँ आती हैं। आम्भि के स्वार्थ ने देश का द्वार सिकन्दर के लिए खोल दिया और पुरु के दम्भ ने पराजय का अविस्मरणीय कलंक इतिहास में अंकित कर दिया।

सिंहरण : आचार्य ! पुरु का पराक्रम और शौर्य असाधारण था। भारतीय सैनिकों की वीरता देखकर सिकन्दर स्वयं स्तब्ध और मुग्ध था। आरम्भ में वह विजय की आशा छोड़ बैठा था, किन्तु दैव ही पुरु के प्रतिकूल हो गया।

चन्द्रगुप्त : दैव किस भाँति पुरु के प्रतिकूल हो गया, सिंहरण ?

सिंहरण : अन्तिम निर्णायक युद्ध होने के पूर्व कई बार सिकन्दर की सेना ने वितस्ता पार कर इस पार आने का प्रयत्न किया। एक बार उसके असंख्य सैनिकों ने नौकाओं पर सरिता पार कर पुरु के स्कन्धावार पर आक्रमण करना चाहा, पर भारतीय धनुर्धरों ने उनके शिरों को काट-काटकर कन्दुकों की तरह आकाश में उछाल दिया और उन्हें जल-समाधि लेने को विवश कर दिया। विस्तस्ता के पुल पर से भी उन्होंने इस पार आने का प्रयत्न किया, पर इसमें भी उन्हें सफलता नहीं मिली।

व्याघ्रपाद : फिर सिकन्दर की सेना को वितस्ता पार कर पुरु की सीमा में प्रविष्ट होने का अवसर कैसे मिला ?

सिंहरण : पुरु और सिकन्दर के स्कन्धावार वितस्ता के आरपार बिलकुल आमने-सामने ही थे। पुरु को पता नहीं चल सका, सिकन्दर ने

ऊपर की ओर कुछ दूर हटकर एक अँधेरी रात्रि में अपनी विशालवाहिनी वितस्ता के इस पार उतार दी। आम्भि के द्वारा उसे ऐसे स्थान का सन्धान मिल गया था, जहाँ धारा के बीच एक द्वीप था और बिना नौकाओं के नदी पार करना सेना के लिये सुगम था।

चाणक्य : देश की सुरक्षा के लिए सबसे पहले देशद्रोहियों का मूलोच्छेद होना ही चाहिए। उनके साथ नरमी का व्यवहार अपने-आप में ही अक्षम्य देशद्रोह है।

सिंहरण : यथार्थ है गुरुदेव ! आम्भि के कलुषित हृदय जैसी ही काली था वह रात्रि, जब सिकन्दर की सेना वितस्ता के पार आई। आकाश में घने बादल घिर आये थे, घनघोर वर्षा भी होने लगी थी। प्रशिक्षित यवन-सेना इस प्रतिकूल परिस्थिति में भी नदी के पार आ गई। पुरु को जैसे ही इसका समाचार मिला, उसने अपने युवराज के नेतृत्व में एक बड़ा सैनिक दल उसके प्रतिरोध के लिए भेजा। इस सैन्यदल ने बड़ी वीरता से सिकन्दर की प्रगति को रोका, पर उनमें से कोई भी जीवित नहीं बचा।

चाणक्य : मदान्ध और अदूरदर्शी राजपुरुषों के अविवेक और प्रमाद के कारण अपराजेय सेनाएँ भी पराजित हो जाती हैं। अच्छा फिर क्या हुआ ?

सिंहरण : युवराज की सेना के निःशेष हो जाने पर सिकन्दर आगे नहीं बढ़ा और कुशल रणविशारद की तरह पुरु की सेना के आक्रमण की प्रतीक्षा करने लगा। महावीर पुरु ने आगे बढ़कर व्यूहरचना की और सिकन्दर की सेना पर प्रबल आक्रमण किया। पूरु की सेना के हाथियों की मार से सिकन्दर की सेना के छक्के छूट गये और उसे अपनी पराजय निश्चित प्रतीत होने लगी।

चाणक्य : फिर सहसा पाँसा कैसे पलट गया ?

सिंहरण : गुरुदेव, सिकन्दर अनैतिक और क्रूर तो अवश्य है, पर उसका साहस और रणकौशल अनुकरणीय है। वह साहस बटोरकर अपने चुने हुए अश्वारोही धनुर्धरों की सेना लेकर पुरु की हस्तिसेना पर टूट पड़ा। ग्रीक-सेना के प्रशिक्षित और अनुभवी अश्वारोही हाथियों के व्यूह में घुसकर उनको भालों से छेदने लगे। ग्रीक-अश्वारोहियों के लाघव ने हाथियों को विचलित कर दिया और वे लौटकर अपनी ही सेना का संहार करने लगे। पुरु ने इस स्थिति को भी दृढ़ता से सँभाला और अपने पैदल धनुर्धरों की सेना को अश्वारोही ग्रीक-सेना के प्रतिरोध के लिए आगे कर दिया।

चाणक्य : पुरु के ये धनुर्धर अपने अचूक लक्ष्यवेध के लिए विख्यात हैं, उसे इनपर बड़ा गर्व था।

सिंहरण : आचार्य ! दुर्भाग्य के सामने किसी की कुछ नहीं चलती। आप जानते ही हैं, ये सैनिक भूमि पर टेक कर अपना धनुष चलाते हैं। वर्षा के कारण भूमि इतनी गीली हो गई थी कि उनके धनुष धरती पर टिक ही नहीं पाये, फिसल गये। परिणाम यह हुआ कि पुरु की यह सेना भी शर-सन्धान का कौशल प्रदर्शित किये विना ही ही मारी गई। तत्पश्चात्.........

चाणक्य : तत्पश्चात्.........कुछ नहीं। मैं वह नहीं सुनना चाहता। तुम कहोगे महावीर पुरु समस्त सेना का संहार हो जाने पर भी अकेला युद्ध-क्षेत्र में डटा रहा। मूर्ख के शौर्य को मैं शौर्य नहीं मानता। मेरी दृष्टि में क्रूर विजेता और पराजित शूर दोनों ही एक जैसे निन्द्य हैं।

चन्द्रगुप्त : मैं आपकी बात नहीं समझ सका, गुरुदेव !

चाणक्य : मेरी बात बड़ी सरल है चन्द्रगुप्त ! मैं कहता हूँ, अच्छे शूर कभी पराजित नहीं होते। यदि वे पराजित होते हैं, तो अपने या अपने

नेता की अदूरदर्शिता, जड़ता और प्रमाद के कारण। पुरु की कोटि के अहम्मन्य राजनीतिज्ञ राष्ट्र की रक्षा को नृत्य-गीत और आपानकों के आयोजन जैसा ही अपनी विलास-साधना का एक उपकरण मानते हैं। इसी का यह परिणाम होता है कि उनके द्वारा राष्ट्र की प्रतिष्ठा नष्ट होती है।

चन्द्रगुप्त : आचार्यदेव, आप चाहते क्या हैं ?

चाणक्य : चन्द्रगुप्त, सुनो ! मैं चाहता हूँ, हमारे इस देश में शौर्य के नाम पर पराजय की पूजा कभी न की जाय। शौर्य का एक ही लक्ष्य होता है—विजय। उसे प्राप्त करने के सब साधन जुटाते रहना ही सच्ची वीरता है। हमारे राजपुरुष इतने दूरदर्शी, दक्ष और कर्त्तव्य-परायण हों कि उनकी योजनाओं में संयोग या दुर्भाग्य के लिए कोई अवकाश ही न रह जाय। हमारी सेनाएँ इस प्रकार प्रशिक्षित की जाँय कि वे जल-स्थल, मरुस्थल, गहन वन एवं दुर्लंघ्य पर्वत-शिखर पर अप्रतिहत गति से जयिष्णु युद्ध कर सकें। भयंकर वर्षा, ग्रीष्म और प्रचण्ड शिशिर जैसी प्रतिकूल-से-प्रतिकूल ऋतुओं में भी उनका विजय-अभियान अकुण्ठित रहे।

अलका : बड़ा महान् स्वप्न है गुरुदेव !

चाणक्य : (हँसकर) स्वप्न ? मैं स्वप्नदर्शी नहीं हूँ, अलका ! मैं सत्यद्रष्टा ब्राह्मण हूँ। मैं सत्य ही देखता हूँ और सत्य ही मेरी वाणी में निवास करता है। तुम इसे मेरा जीवनादर्श कह सकती हो, पर दूसरे देश जिसे आदर्श कहते हैं, वही इस देश के जीवन का यथार्थ है।

चन्द्रगुप्त : गुरुदेव, आपकी ऊर्जस्वित वाणी के इस महाप्रवाह में हमारे तन, मन और प्राण आपके निर्दिष्ट लक्ष्य की ओर बह चलने को आकुल हो रहे हैं। आप हमारे कर्त्तव्यों का निर्धारण करें।

चाणक्य : ठीक है, चन्द्रगुप्त ! सिकन्दर की सेना की गतिविधि का मुझे आभास मिल गया है। वह अब धीरे-धीरे असिक्नी की ओर बढ़ रहा है। वह इस मार्ग में पड़नेवाले ग्लेचुकायन, कठ और अम्बष्ठ-गणराज्यों को ध्वस्त और त्रस्त करता हुआ आगे बढ़ेगा। सिकन्दर की सेना को पराजित करने के लिए इन तीनों गणराज्यों की सम्मिलित शक्ति पर्याप्त है। पर, अब इतना समय नहीं कि वे सम्मिलित मोर्चे का निर्माण कर सकें; दूसरे पुरु की सेना पथ-प्रदर्शक बनकर अब ग्रीकों के आगे-आगे चल रही है। अतएव, इन छोटे-छोटे गणराज्यों का टिकना तो कठिन है।

अलका : फिर क्या किया जाय गुरुदेव ?

चाणक्य : अलका, तुम और सिंहरण अपनी टोली के साथ इन गणराज्यों में फैल जाओ और साधु, कवि, नर्त्तक, नट, पुराणवाचक, कथाकार, उपदेष्टा आदि के रूप में जनता के मनोबल को ऐसा दृढ बनाओ कि वह विषम-से-विषम परिस्थिति में भी अटल-अचल रहे। तुम अपने दल में विश्वसनीय और कुशल व्यक्तियों की वृद्धि करते रहो।

अलका : जो आज्ञा, गुरुदेव !

चन्द्रगुप्त : मुझे क्या करना है आचार्य ?

चाणक्य : वत्स ! तुमने अपने दल के साथ उन पश्चिमी गणराज्यों में फैल जाओ, जिनको सिकन्दर ने पराजित किया है। इन राज्यों में तुम यवनों के विरुद्ध विद्रोह की आग भड़का दो, जिससे वे फिर इस रास्ते से लौटने का साहस न कर सकें।

चन्द्रगुप्त : गुरुदेव, वह तो मगध को पददलित करने का स्वप्न देख रहा है। अभी उसके इस रास्ते से लौटने की बात ही क्या है ?

चाणक्य : चाणक्य के रहते उसकी जन्मभूमि पर यवनों के चरण नहीं पड़ सकते। मैंने सब व्यवस्था कर दी है। मेरा संदेश वहाँ के महामन्त्री के पास पहुँच गया है, वह भी तैयारी कर रहा होगा। मैंने अपने गुप्तचर भी पंचनद से मगध तक फैला दिये हैं, जो जनता को

सिकन्दर के अभियान के विरुद्ध उत्तेजित कर रहे हैं। मैं ऐसी परिस्थिति का निर्माण करना चाहता हूँ कि सिकन्दर को शतद्रु पार करने का साहस ही न हो। यदि उसने ऐसा किया, तो उसे शतद्रु और यमुना के बीच मगध की लक्षाधिक वाहिनी का सामना करना होगा।

चन्द्रगुप्त : धन्य गुरुदेव ! आपकी योजना मेरी समझ में आ गई। मैं पश्चिमी जनपदों में विद्रोह की आग भड़का दूँगा। किन्तु, सिकन्दर ने यदि आपके योजनानुसार आगे बढ़ने का साहस नहीं किया और पश्चिमी जनपद विद्रोही हो गये, फिर भी सिकन्दर अपने लौटने का कोई-न-कोई मार्ग निकालेगा। उसके लिए आपने क्या व्यवस्था की है ?

चाणक्य : तुम्हारी जिज्ञासा ठीक है वत्स ! उस स्थिति में वह क्षुद्रकों और मालवों के छोटे-छोटे जनपदों को पददलित करता हुआ लौटेगा। उसके लिए भी मैंने उपाय सोच लिया है।

सिंहरण : वह क्या है आचार्य ?

चाणक्य : सिंहरण, अलका के साथ तुम कठ और अम्बष्ठ की जनता को प्रबुद्ध करते हुए शीघ्र-से-शीघ्र मालव पहुँचो। तुम मालव हो, क्षुद्रक और मालवों की पुरानी शत्रुता को दूर कर उन्हें सम्मिलित रूप से सिकन्दर के प्रतिरोध के लिये तैयार करो। महाशूर मालवों और क्षुद्रकों की सम्मिलित शक्ति के समक्ष सिकन्दर की सेना टिक नहीं सकेगी। अलका मैं चाहता हूँ, मालवों के बाणों से ही सिकन्दर को वीरगति प्राप्त हो।

अलका : ऐसा ही होगा गुरुदेव !

चाणक्य : सावधान रहना, सिंहरण ! सिकन्दर की गुप्तचर-व्यवस्था बड़ी पूर्ण है।

चन्द्रगुप्त : इस बीच आप कहाँ रहेंगे आचार्य ?

चाणक्य : मैं सब जगह रहूँगा चन्द्रगुप्त ! क्यों सिंहरण ? सुना है सिकन्दर भारत के ब्राह्मणों की खोज में है, वह उन्हें यूनान ले जाना चाहता है।

सिंहरण : ठीक है, गुरुदेव !

चाणक्य : (हँसकर) तो मैं उससे भी भेंट करूँगा। कहूँगा, मुझे ही अपने देश को ले चले।

सब : आश्चर्य चाणक्य की जय !

चाणक्य : नहीं, बोलो, 'महान् भारतीय राष्ट्र की जय !'

सब : 'भारतीय राष्ट्र की जय !'

द्वितीय दृश्य

(असिक्नी का तट, सिकन्दर का स्कन्धावार। बहुत दूर तक यवन-सेना के शिविर फैले हुए हैं, उसका कोलाहल दूर तक सुनाई पड़ता है। स्कन्धावार के मुख्य द्वार पर यवन और भारतीय प्रहरियों का अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित गुल्म नियुक्त है। पहले ही जैसी वेशभूषा में आचार्य चाणक्य प्रवेश करते हैं।)

एक सैनिक : (रोककर) कौन हो तुम ?

चाणक्य : ब्राह्मण।

सैनिक : यहाँ क्यों आये हो ?

चाणक्य : सुना था, तुम्हारे सम्राट् सिकन्दर ब्राह्मणों की खोज में है। वे उन्हें यूनान ले जाना चाहते हैं, इसीलिए आया हूँ।

सैनिक : (गुल्मप्रमुख से) सम्राट् ब्राह्मणों को यूनान ले जाना चाहते हैं, क्या आप यह जानते हैं ?

गुल्मप्रमुख : मैं तो नहीं जानता।

भारतीय सैनिक : मैं जानता हूँ। सम्राट् ने हमारे महाराज पुरु से कुछ ऐसे विद्वान् ब्राह्मण खोज देने को कहा है, जिन्हें वे यूनान ले जा सकें। उनके गुरु सुकरात ने चलते समय यह अनुरोध किया था।

चाणक्य : यह बात तो यहाँ सब लोगों को मालूम है।

गुल्मनायक : ऐसी बात है, तो कुछ देर ठहरिए। सम्राट् और सेनापति सेल्यूकस इधर ही आते होंगे। मैं आपको उनसे मिला दूँगा।

चाणक्य : बहुत अच्छा ! क्या सम्राट् और सेनापति सेल्यूकस आज कहीं जा रहे हैं ?

गुल्मनायक : नहीं। सम्भवतः सम्राट् कोई नया आक्रमण करनेवाले हैं, इसीलिए सेनापति के साथ मार्ग और भूमि के निरीक्षण के लिए गये थे। उनके लौटने का समय हो गया है।

(धावमान अश्वों की टापों का शब्द होता है, सब सैनिक सावधान होकर दक्ष की स्थिति में खड़े हो जाते हैं। सन्नाटा छा जाता है।)

गुल्मनायक : **(चाणक्य से)** ब्राह्मण ! सम्राट् और सेनापति आ रहे हैं। वह देखो, कुछ देखने के लिए वे घोड़े से उतर गये हैं और अब इधर ही मुड़ चुके हैं। सावधान हो जाओ।

(अंगरक्षकों के साथ सिकन्दर और सेल्यूकस का प्रवेश, सैनिकों का गुल्म सैनिक अभिवादन करता है। सिकन्दर सबको ध्यान से देखता है।)

सिकन्दर : **(चाणक्य को देखकर गुल्मनायक से)** यह कौन है ?

गुल्मनायक : **(अभिवादन करते हुए)** एक भारतीय ब्राह्मण, देवपुत्र !

सिकन्दर : **(चाणक्य से)** तुम यहाँ क्यों आये हो, ब्राह्मण !

चाणक्य : आपके दर्शन करने, सम्राट् !

सिकन्दर : दर्शन करने का उद्देश्य ?

चाणक्य : सुना था, सम्राट् सिकन्दर कुछ भारतीय ब्राह्मणों को यूनान ले जाना चाहते हैं। मेरी इच्छा हुई, मैं भी वह देश देखूँ। इसीलिए आपकी सेवा में आ गया हूँ।

सिकन्दर : **(सन्तोष के स्वर में)** अवश्य मैं कुछ विद्वान् ब्राह्मणों को यूनान ले जाना चाहता हूँ। पर, यहाँ के ब्राह्मण तो जाना ही नहीं चाहते। अकेले एक तुम्हीं ऐसे व्यक्ति मुझे मिले, जो स्वेच्छा से अपना देश छोड़कर मेरे साथ जाने को तैयार हो।

चाणक्य : ब्राह्मणों का कोई अपना देश-विशेष नहीं होता, वह पवन की तरह सर्वथा निःसंग और सर्वव्यापी होता है। सारी वसुधा ही उसका कुटुम्ब है।

सिकन्दर : तुमको अपने देश भारत से मोह नहीं ?

चाणक्य : मोह को हम अज्ञान मानते हैं, सम्राट् ! हमको अपने देश पर गर्व है, उसपर अपार भक्ति है; क्योंकि यह देश विश्व-मानवता का जनक है।

सिकन्दर : (हँसकर) तुम्हारे देश में गर्व करने योग्य क्या है, ब्राह्मण ? मैंने तो यहाँ आम्भि जैसे लोग ही अधिक देखे हैं।

चाणक्य : व्यंग्य न करें, सम्राट् ! दुर्भाग्य से आम्भि जैसे दो-चार व्यक्ति आपको मिल गये होंगे। पर गर्व करने योग्य यहाँ के छोटे-छोटे जनपदो की वह असंख्य जनता है, जिसने साधनहीन और असन्नद्ध होते हुए भी आपको एक-एक पग आगे बढ़ना कठिन बना दिया है। ग्लेचुकायनों के कठों और अम्बष्ठों द्वारा आपका जो प्रतिरोध हुआ, क्या वह गर्व करने की वस्तु नहीं है ?

सिकन्दर : तुम तो बड़े कूटनीतिज्ञ लगते हो ब्राह्मण !

चाणक्य : आश्चर्य है, इस ज्वलन्त सत्य को यवन-सम्राट् कूटनीति मानते हैं।

सिकन्दर : तुमने यह सब कैसे जाना ?

चाणक्य : सम्राट्, मैं अपने घर से तक्षशिला जा रहा था। मार्ग में मैंने यह सब अपनी आँखों से देखा है।

सिकन्दर : तुम्हारा घर कहाँ है और तुम तक्षशिला क्यों जा रहे थे ?

चाणक्य : मेरी जन्मभूमि है मगध और उच्चतर अध्ययन की इच्छा से मैं तक्षशिला के विश्वविद्यालय को जा रहा था।

सिकन्दर : ओह ! तुम मगध के हो ? (सेल्यूकस से) यह ब्राह्मण अपने लिए बड़ा उपयोगी हो सकता है।

सेल्यूकस : अवश्य, देवपुत्र ! मैं इसका उपयोग करूँगा।

चाणक्य : सम्राट् ! मैं मगध की अपराजेय सैनिक शक्ति के बारे में आपको सब कुछ बतला सकता हूँ। वहाँ कितनी और किस प्रकार की सेना है, वह कैसे युद्ध करती है—ये सब बातें मुझे ज्ञात हैं। वहाँ जिन शास्त्रों और कलाओं का विशेष अध्ययन-अनुशीलन होता है, उनके बारे में भी मैं बता सकता हूँ।

सिकन्दर : तुम विद्वान् लगते हो, ब्राह्मण !

चाणक्य : विद्वान् ही ब्राह्मण हो सकता है, सम्राट् !

सिकन्दर : किन शास्त्रों और विद्याओं का तुमको ज्ञान है ?

चाणक्य : साहित्य, दर्शन, व्याकरण, राजनीति, अर्थशास्त्र, आयुर्वेद और ज्योतिष की सभी शाखाओं पर मेरा पूरा अधिकार है। मानव-जीवन से सम्बन्धित अन्य सभी विद्याओं का भी मुझे सामान्य ज्ञान है।

सिकन्दर : यूनान में तुम्हारा स्वागत होगा, ब्राह्मण ! वहाँ के नागरिक तुमसे ये विद्याएँ सीखना चाहेंगे। वहाँ तुम और भी कुछ करना चाहोगे ?

चाणक्य : अध्ययन और अध्यापन ही ब्राह्मण का काम है। वैसे जहाँ ब्राह्मण जाता है, उसका, धर्म उसकी संस्कृति भी उसके साथ ही जाती है।

सिकन्दर : इसका अर्थ ?

चाणक्य : इसका अर्थ है कि जो पूर्ण मानव-धर्म इस देश में अवतरित हुआ है, अपने विचार और आचार द्वारा उसका प्रचार करते हुए हम सारे विश्व को आर्य बना देना चाहते हैं।

सिकन्दर : परिपूर्ण मानव-धर्म क्या है ?

चाणक्य : मैं तो आपके साथ चलना ही चाहता हूँ। विस्तार से इसकी व्याख्या कभी करूँगा। अभी इतना ही कहना चाहता हूँ कि परिपूर्ण मानव-धर्म की प्रतिष्ठा के मार्ग की सबसे बड़ी बाधा है दूसरे देशों पर हिंसाप्रिय महत्त्वाकांक्षी शासकों के आक्रमण। हमारे देश में लगभग ढाई सौ वर्ष पूर्व गौतम बुद्ध नाम के एक अवतार-पुरुष का आविर्भाव हुआ था, जिन्होंने चराचर जगत् को अपने प्रेम का अप्रतिहत दान दिया और अहिंसा-धर्म का उपदेश किया। अहिंसा का महत्त्व स्वीकार करते हुए भी हम ब्राह्मणों ने उसका विरोध किया।

सिकन्दर : ब्राह्मणों ने उसका विरोध क्यों किया ?

चाणक्य : जबतक हिंसक हैं, तबतक अहिंसा को निरपेक्ष धर्म के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। जबतक हिंसाप्रिय आक्रामकों का अस्तित्व है, तबतक राष्ट्र को शस्त्र से ही रक्षित रखा जा सकता है ! आपके आक्रमण ने इस देश को जगा दिया है।

सिकन्दर : यह कैसे ?

चाणक्य : यह देश स्वभाव से ही जनतान्त्रिक है, सब प्रकार के आचार और विचार का विघटनवादी स्वातन्त्र्य यहाँ जन-जन को सहज सुलभ रहा है। कतिपय दुर्भाग्यपूर्ण विघटनकारी प्रवृत्तियों ने इसे छोटे-छोटे जनपदों में बाँट दिया। प्रमादी और विलासी शासकों ने इसकी सीमाओं को अरक्षित छोड़ दिया। अनतिदूर भविष्य में ही इन लघु जनपदों और अनेक राज्यों के स्थान पर इस देश को आसेतु-हिमाचल एक सूत्र में ग्रथित करनेवाले महान् शक्तिशाली साम्राज्य का उदय होगा, जिसकी सीमाएँ वंक्षुतट तक प्रसरित होंगी। फिर कोई आक्रान्ता इस देश की ओर आँख उठाकर भी नहीं देख सकेगा।

सिकन्दर : ब्राह्मण, तुम ज्योतिषी हो अथवा छद्मवेशधारी कूटनीतिज्ञ ?

चाणक्य : वैसे भारतीय ब्राह्मण तो सभी कुछ होता है, सम्राट् ! पर, मैं तो यहाँ केवल ज्योतिष के एक अध्येता के रूप में बोल रहा हूँ।

सिकन्दर : तो फिर अपनी ज्योतिष की शक्ति दिखाओ और बतलाओ कि मुझे भारत-विजय करने में कितना समय लगेगा ?

चाणक्य : (कुछ देर आँख मूँदकर) सम्राट् ! भारत-विजय की बात तो बहुत दूर की है, आपमें शतद्रु पार करने का सामर्थ्य भी नहीं है। आपको बहुत शीघ्र अपने देश को विफलमनोरथ होकर लौटना पड़ेगा।

सिकन्दर : सँभालकर बोलो, ब्राह्मण ! ध्यान रखो, तुम विश्वविजेता सिकन्दर के समक्ष हो।

चाणक्य : ज्योतिष नियति को देखनेवाला नेत्र है, स्वयं यम भी मुझसे असत्य नहीं कहला सकते।

(दौड़ते हुए घोड़े की टापों की आवाज होती है और रुक जाती है। पसीने से लथपथ एक यवन सन्देशवाहक प्रवेश कर और सिकन्दर को अभिवादन करता है)

सिकन्दर : तुम कहाँ से आ रहे हो ?

सन्देशवाहक : तक्षशिला से, सम्राट् !

सिकन्दर : क्या समाचार है ?

सन्देशवाहक : सम्राट् द्वारा जीते हुए पंचनद के पश्चिमी प्रदेशों में विद्रोह हो गया है और वहाँ आपके प्रतिनिधि को शिवि-गणतन्त्र के प्रमुख व्याघ्रपाद ने मार डाला है।

सिकन्दर : (क्रोध और उद्वेगपूर्वक सेल्यूकस से) सेनापति, यह कैसे सम्भव हुआ ?

(सेल्यूकस एकाएक कुछ उत्तर नहीं दे पाता। उनलोगों की असावधानता का लाभ उठाकर चाणक्य चुपके-से चले जाते हैं।)

तृतीय दृश्य

[मालव और क्षुद्रक जनपदों की सीमा पर मालवों का स्कन्धावार। शस्त्र-धारण की क्षमतावाले जनपद के सब आवाल-वृद्ध सैनिक-वेश में वहाँ समवेत हैं। वे धनुष-बाण,खड्ग, परशु आदि अस्त्रों से सुसज्जित है। जनपद की सब स्त्रियाँ भी अपना घरवार छोड़कर अपने दूधपीते बच्चों को गोद में लिये हुए वहाँ आई हैं। वे भी सैनिक-वेश में हैं और उनके हाथों में धनुष और लम्बे-लम्बे भाले हैं, जिनके फलक सूर्य की किरणों में दमक रहे हैं। सब स्त्री और पुरुष सैनिकों की सभा स्कन्धावार के सामने बैठी है। सामने मालवगण का केसरिया ध्वज फहरा रहा है, उसके नीचे गणप्रमुख त्रिविक्रम और सेनापति विजयकीर्त्ति खड़े हैं।]

त्रिविक्रम : देवियो और लन्धुओ ! यह हमारा सौभाग्य है कि क्षुद्रकों के साथ हमारा पुराना वैर समाप्त हो गया। आज इसी स्थान पर हम उनकी सेना का स्वागत करेंगे और मिलकर विश्वविजय का दम्भ करनेवाले सिकन्दर के विरुद्ध अभियान करेंगे। हमें विश्वास है, क्षुद्रकों और मालवों की सम्मिलित शक्ति के समक्ष यवन-सेना टिक नहीं सकेगी।

विजय कीर्त्ति : बन्धुओ ! गणप्रमुख ठीक कहते हैं। क्षुद्रकों और मालवों की सम्मिलत शक्ति अजेय है। आचार्य चाणक्य ने सन्देश भेजा है, मालव के विशिखों और कुन्तों से ही सिकन्दर को वीरगति मिलनी चाहिए। वोरो सिकन्दर का वक्ष आपके लक्ष्य में बँध जाना चाहिए।

सब सैनिक : (एक स्वर से) विश्वास रखें, सेनापति ; हमारे भालों और वाणों के लहलहाते हुए काल व्याल-यवनों का प्राण-पवन पी जायेंगे। अत्याचारी सिकन्दर यूनान को जीवित नहीं लौटेगा।

त्रिविक्रम : धन्य हो वीरो ! जिस देश की नारियों और बालकों में भी शत्रु को पद-मर्दित करने का ऐसा उत्साह और दृढ़ संकल्प हो, वह कभी पराजित नहीं हो सकता।

सैनिकगण : पराजय का आप नाम न लें। विजय, एकमात्र विजय हमारा ध्येय है। हम सिकन्दर से उसके अत्याचारों का बदला लेकर ही रहेंगे।

त्रिविक्रम : सेनापति ! अबतक क्षुद्रक-सेना को यहाँ आ जाना चाहिए, विलम्ब से मुझे चिन्ता हो रही है। सिंहरण और अलका भी अबतक नहीं आये !

वि० कीर्त्ति : कुछ विलम्ब तो अवश्य हो गया है, पर कुछ-न-कुछ समाचार आने ही वाला है।

(सहसा बड़ी तेजी से अलका और सिंहरण का प्रवेश। दोनों बड़े उत्तेजित दिखाई पड़ते हैं।)

त्रिविक्रम : क्या समाचार है, सिंहरण ? क्षुद्रकगण की सेना कितनी दूर है ?

सिंहरण : बड़ा भयानक समाचार है, गणप्रमुख ! किसी देशद्रोही ने सिकन्दर को क्षुद्रकों और मालवों की सन्धि का समाचार दे दिया। क्षुद्रकगण तैयार होकर इधर आते, इसके पहले ही उसने उनपर आक्रमण कर दिया। आततायी सिकन्दर ने खेत उजाड़ दिये हैं, गाँवों को जलाकर स्वाहा कर दिया है और निहत्थे शिशुओं, बालकों, वृद्धों और नारियों का भी नृशंस संहार कर डाला है।

त्रिविक्रम और विजयकीर्त्ति : इस पवित्र भूमि पर इतना भयंकर अत्याचार ! हम सिकन्दर से इसका बदला लेंगे। सबसे पहले उन देशद्रोहियों को दण्ड दिया जाना चाहिए, जिन्होंने सिकन्दर को इस सन्धि का समाचार दिया।

सिंहरण : राष्ट्र के कलंक आम्भि ने ही यह कुत्सित परम्परा चलाई है।

सब सैनिक : हम देशद्रोहियों के रक्त से ही अपनी प्यास बुझायेंगे। हम यवनों से उनके अत्याचारों का बदला लेंगे।

सिंहरण : यवन-सेना इधर ही आ रही है, हमें तुरन्त आगे बढ़कर उसे रोकना चाहिए। मैंने आचार्य चाणक्य के पास समाचार भिजवा दिया है। मुझे विश्वास है, वे अविलम्ब चन्द्रगुप्त को सेना के साथ हमारी सहायता के लिए भेजेंगे।

त्रिविक्रम : समय बहुत कम है। चन्द्रगुप्त समय पर हमारी सहायता के लिए आ सकेंगे, इसकी आशा नहीं।

विजयकीर्त्ति : हमें अकेले ही इस आक्रमण को विफल बनाना है। अतएव, हमें अभी प्रस्थान करना चाहिए और कुछ आगे बढ़कर उपयुक्त स्थान पर व्यूहबद्ध हो जाना चाहिए। हमारा प्रयत्न यही होगा कि यवन-सेना हमारी सीमाओं में पैर भी न रख सके। हमारी संख्या बहुत कम है, फिर भी कोई चिन्ता नहीं।

अलका : सिकन्दर की सेना की गति अकल्पनीय है। वह किधर से आक्रमण करेगा, इसका अनुमान भी कठिन है। हमें सब प्रकार की सम्भावनाओं के लिए उद्यत रहना है।

विजयकीर्त्ति : मैं ऐसी ही व्यवस्था करूँगा।

अलका : मेरी एक प्रार्थना है सेनापति !

विजयकीर्ति : कहो, बहिन !

अलका : व्यूह-रचना करते समय इस बात का ध्यान रखें कि नारी-सेना ऐसे स्थान पर रहे, जहाँ से वह सहज ही यवन-सेना के उस भाग पर आक्रमण कर सके, जिसमें स्वयं सिकन्दर हो। मालवा की वीरांगनाएँ ही उस अत्याचारी को अपने बाणों का लक्ष्य बनायेंगी।

त्रिविक्रम : धन्य हो, बेटी अलका ! तुम मालव का गौरव हो। इस देश का धर्म तुम्हारा सहायक होगा, तुम्हारा संकल्प अवश्य पूरा होगा। तुम्हारे बाण और भाले विष्णु के चक्र और शक्र के वज्र बन जायेंगे।

सब सैनिक : (एक स्वर से) देश की जय, धर्म की जय !

(उन्मत्त जयनाद के बीच सेनापति प्रस्थानसूचक तूर्य बजाते हैं, कोलाहल शान्त हो जाता है। सैनिक पंक्तिबद्ध होने लगते हैं।)

चतुर्थ दृश्य

(मालव का युद्धक्षेत्र। युद्ध अभी-अभी समाप्त हुआ है, चारों ओर रक्त ही रक्त है। धरती रुण्ड-मुण्डों से पटी पड़ी है, घायलों की मर्मवेधी कराह वातावरण में भर गई है। आबालवृद्ध-नरनारी सभी मालव यवनों की लक्षावधि सेना के समक्ष वीरता से युद्ध करते हुए मारे गये हैं। दो-चार ही बचे होंगे। कुछ ही दूर पर यवनों के शिविर दिखाई पड़ते हैं। कुछ सैनिक घायल सिकन्दर को रथ पर लिए हुए आते हैं, सेनापति सेल्यूकस उसके साथ हैं। सिकन्दर मूर्च्छित है।)

सिकन्दर : **(आँखें खोलकर)** तुम लोग कौन हो, मुझे कहाँ लिये जा रहे हो ? ठहरो ! **(सेल्यूकस की आज्ञा से रथ रुक जाता है।)**

सेल्यूकस : हम संग्रामभूमि से शिविर को जा रहे हैं, सम्राट् ! समस्त मालव-सेना मारी गई है, आप घायल हो गये हैं।

सिकन्दर : हाँ, मैं घायल हो गया हूँ, शरीर में बड़ी पीड़ा है। सम्भवतः, मेरी छाती में विषाक्त बाण लगा है।

सेल्यूकस : चिन्ता न करें, देवपुत्र ! यह सामान्य बाण है। साधारण उपचार से ही आप पूर्ण स्वास्थ्य-लाभ करेंगे।

सिकन्दर : मुझे ऐसा विश्वास नहीं। सिकन्दर को स्वप्न में भी ऐसी आशंका नहीं थी कि किसी नारी-सैनिक का बाण उसके वज्र-कठोर वक्ष को वेध सकेगा। मुझे इतना ही स्मरण है कि मालवों के नारी-सैनिकों के गुल्म ने मुझपर भयानक आक्रमण किया। मेरा वीर हृदय उनके असाधारण शौर्य और साहस को देखकर स्तब्ध और मुग्ध था। आश्चर्य है, मेरी चुनी हुई अंगरक्षक सेना भी उनके आक्रमण के वेग को सँभाल नहीं सकी। **(हाँफने लगता है।)**

सेल्यूकस : आप अधिक न बोलें, देवपुत्र ! आप इस समय निर्बल हो गये हैं।

सिकन्दर : क्यों न बोलूँ, सेल्यूकस ? जीवन में पहली बार मैंने वीर और वीरांगनाएँ देखी हैं। विशाल पारसीक-साम्राज्य मेरी एक फूँक में बुलबुले की तरह फूट गया। मेरे अत्याचारों को देखकर असंख्य वाहिनी का संचालन कर सकनेवाले सम्राट् थर्रा गये और अपने मुकुट मेरे चरणों पर चढ़ा दिये। उसी सिकन्दर की विश्वविजयिनी शक्ति को इन छोटे-छोटे जनपदों ने कुण्ठित कर दिया। (फिर हाँफने लगता है, मुँह से रक्त निकल पड़ता है।)

सेल्यूकस : मेरी प्रार्थना स्वीकार करें, देवपुत्र ! अब आप न बोलें, शिविर में चलकर विश्राम करें।

सिकन्दर : नहीं, सेल्यूकस। सिकन्दर वीर है, ऐसे वीर सिकन्दर ने जीवन में पहले कभी नहीं देखे। इस रणभूमि में उनका रक्त गिरा है, बड़ी पवित्र है यह भूमि। इसकी धूलि मेरे मस्तक में लगा दो, इस वीर-भूमि की धूलि मैं स्मृति-चिह्न के रूप में यूनान ले चलूँगा। मुझे यह धरती अच्छी तरह देख लेने दो। (सिर ऊँचा करके चारों ओर देखने लगता है,सेल्यूकस उसके शिर को अपने हाथों पर थाम लेता है।)

सेल्यूकस : सम्राट्, बोलने से आपका कष्ट बढ़ जायगा।

सिकन्दर : सेल्यूकस, तुम समझ नहीं रहे। पीड़ा तो है, पर मुझे एक नया अनुभव हो रहा है।

सेल्यूकस : वह क्या, देवपुत्र !

सिकन्दर : तुम जानते हो, मैंने बड़े-से-बड़े अत्याचार किये है। निरीह शिशु और शय्याग्रस्त वृद्ध भी मेरे लिए अवध्य नहीं रहे। स्त्रियों पर भी मैं भयंकर अत्याचार करने में कुण्ठित नहीं हुआ हूँ, पर उसके लिए मुझे कभी पश्चात्ताप नहीं हुआ। मैं शक्तिशाली को ही जीवन का अधिकारी मानता रहा, किन्तु आज मुझे अनुभव हो रहा है कि कदाचित् मैंने जीवन में भारी भूल की है।

सेल्यूकस : इसपर फिर कभी विचार करें, देवपुत्र !

सिकन्दर : नहीं, मेरी बात सुनो। अपनी पीठ पर अबोध शिशुओं को बाँधे हुए मालवीय नारियों को जब मैंने धनुष चलाते हुए देखा, तब मेरी शक्ति-सम्बन्धी धारणा बदल गई। मुझे लगा, जैसे शिशु भी अपनी माताओं में असामान्य शौर्य का संचार कर रहे हैं। तुमने कहीं देखी हैं ऐसी नारियाँ, सेल्यूकस !

सेल्यूकस : नहीं देखीं, देवपुत्र !

सिकन्दर : इसीलिए तो कहता हूँ, मेरी बात सुनो। जिसे लोग अत्याचार कहते हैं, उसे मैं शक्तिशालियों की क्रीडा मानता था। मेरी धारणा थी शक्तिहीन शक्तिशालियों के क्रीडा कन्दुक-मात्र हैं। पर, मालव की नारियों ने मुझे शक्ति का रहस्य समझा दिया है। अब मैं मान गया हूँ कि अत्याचार सचमुच अत्याचार है।

सेल्यूकस : कुछ विश्राम कर लीजिए, फिर इन बातों पर विचार कीजिए सम्राट् !

सिकन्दर : ठीक है, सेल्यूकस ! मालव की वीरांगना का बाण कोटि-कोटि दुर्गों से भी अधिक अभेद्य सिकन्दर के हृदय को वेध गया। क्या यह महान् आश्चर्य नहीं है सेल्यूकस ?

सेल्यूकस : है सम्राट् ! पर मैं इसका भयंकर प्रतिशोध लूँगा, जिसको स्मरण करके भारतीय इतिहास की आगे आनेवाली शताब्दियाँ काँप-काँप उठेंगी।

सिकन्दर : सेल्यूकस, मुझे तुम्हारी वीरता पर विश्वास है। पर जो लोग मृत्यु को मृत्यु ही नहीं मानते, उनसे कोई क्या बदला लेगा ? मुझे लगता है, यह देश अपराजेय है।

सेल्यूकस : मैं भारत-विजय के आपके स्वप्न को पूरा करके ही रहूँगा सम्राट् !

सिकन्दर : साधु, सेनापति ! हाँ, मुझे यह तो बताओ कि जब मैं बाण लगने से मूर्च्छित हो गया, तो फिर क्या हुआ ?

सेल्यूकस : सम्राट् ! उस समय मैं दूसरे स्थान पर लड़ रहा था । आपके अनुगत सैनिकों ने मुझे बताया है कि मालवों की स्त्री-सेना का संचालन केसरिया बाना धारण किये हुए आजानुविलम्बित अलकोंवाली एक युवती कर रही थी । आपके वक्ष में उसी का वाण लगा ।

सिकन्दर : फिर क्या हुआ ?

सेल्यूकस : आपके गिरते ही वे चारों ओर से आप पर टूट पड़ीं और आप पर अपने बरछों से एक साथ प्रहार किया । यदि आपके अंग-रक्षकों के प्रमुख फिलिप ने उसे अपने ऊपर झेल न लिया होता, तो आपके पवित्र शरीर की क्या दशा होती, कहा नहीं जा सकता ।

सिकन्दर : तो क्या नरपुंगव फिलिप मेरी रक्षा में मारा गया ।

सेल्यूकस : हाँ, सम्राट् !

(सिकन्दर मूर्च्छित हो जाता है, इसी समय एक गुप्तचर प्रवेश कर सेल्यूकस को अभिवादन करता है ।)

सेल्यूकस : (पहचान कर) क्या समाचार है, हेलियस ?

हेलियस : राजकुमार चन्द्रगुप्त बहुत बड़ी सेना के साथ हमारे साथ युद्ध करने के लिए आ रहा है । चारों ओर हमारे विरुद्ध विद्रोह की आग भड़क उठी है । सब ओर से हमारे घिर जाने की आशंका है ।

(सिकन्दर की चेतना लौटती है, हेलियस को देखता है ।)

सिकन्दर : क्या समाचार है सेल्यूकस ?

सेल्यूकस : राजकुमार चन्द्रगुप्त एक बहुत बड़ी सेना के साथ हमारे ऊपर आक्रमण करने के लिए आ रहा है । हमारे लौटने के सब मार्ग अव-रुद्ध प्रतीत होते हैं ।

हेलियस : ऐसा ही है सेनापति !

सिकन्दर : तो फिर हम लोग यहीं ठहरकर युद्ध करें, परिणाम जो हो ।

सेल्यूकस : नहीं सम्राट् ! इस प्रकार प्राण देने से कोई लाभ नहीं । मुझे एक उपाय ज्ञात है ।

सिकन्दर : वह क्या ?

सेल्यूकस : हम अभी प्रस्थान करेंगे और कुछ दूर आगे बढ़कर सिन्धु नदी से नौकाओं द्वारा इस अवरोध के बाहर निकलने का प्रयत्न करेंगे। निरापद स्थान पर पहुँचकर हम यूनान की ओर लौटने का मार्ग पकड़ेंगे। आपके स्वस्थ हो जाने पर हम लौटकर इस सारे देश को पददलित कर डालेंगे, अभी तो लौट पड़ने में ही कल्याण है।

सिकन्दर : यही करो। (हेलियस से) तुमने इस बात का पता लगाया कि इस योजना का संचालन कौन कर रहा है ?

हेलियस : सम्राट्। एक काले रंग का ब्राह्मण !

सिकन्दर : क्या नाम है उसका ?

हेलियस : देवपुत्र, उसका नाम है चाणक्य।

सिकन्दर : कहाँ का रहनेवाला है वह ?

हेलियस : मगध का।

सिकन्दर : मगध का ? सेल्यूकस, यह वही ब्राह्मण तो नहीं है, जो चिनाव के तट पर कुछ दिन पूर्व मुझसे मिला था।

सेल्यूकस : हो सकता है, सम्राट्।

[परदा गिरता है]

२. महाकवि सूर और तुलसी

पात्र-परिचय

महाप्रभु वल्लभाचार्य : पुष्टिमार्ग (शुद्धाद्वैत) के आचार्य महाकवि सूर के दीक्षा-गुरु

महाकवि सूर : सूरसागर के प्रणेता, विश्व-कवि एवं भक्तराज

गोस्वामी तुलसीदास : रामचरितमानस के रचयिता, हिन्दी के वाल्मीकि

अकबर : दिल्ली का मुगल सम्राट्

तानसेन : इतिहास-प्रसिद्ध संगीत-सम्राट्

नन्ददास, कुंभनदास, परमानन्ददास आदि : अष्टछाप के महाकवि

सेवक, परिचायक आदि

पहला दृश्य

[**स्थान :** गऊघाट पर महाप्रभु वल्लभाचार्य की पर्णकुटी ।

महाप्रभु प्रसाद ग्रहण कर अपने आसन पर विराजे हैं। कुछ जिज्ञासु साधक और भक्त विनीत भाव से सामने बैठे हैं। महाप्रभु के मुख-मण्डल पर असाधारण सौम्यता और तेज विराजमान है। उनके नेत्रों से शान्ति की शीतल किरणें विकीर्ण होती हुई एक बड़े ही आह्लादकारक वातावरण का निर्माण कर रही हैं। उनके दाहिने हाथ में एक तुलसी की माला है, जिसपर उनके कृष्ण-नाम का जप निरन्तर चल रहा है। बीच-बीच में वे अत्यन्त सौहार्द-व्यंजक स्मिति के साथ समवेत भक्त-मण्डली की जिज्ञासाओं का समाधान भी करते जाते हैं। इसी समय एक सेवक साधु आता है।]

सेवक : भगवन्, श्रीसूरदासजी आपकी सेवा में उपस्थित होने की अनुमति चाहते हैं।

महाप्रभु : कौन सूरदास, वत्स ?

सेवक : यहीं गऊघाट पर उनका आश्रम है, वे एक बड़े प्रतिष्ठित स्वामी हैं, आज आपका शुभागमन सुन आपके दर्शनार्थ आ रहे हैं।

महाप्रभु : भगवान् का भजन भी करते हैं वे सूरदास ?

सेवक : महाप्रभु, अनेक शिष्य हो गए हैं उनके भजन सुनकर। इस प्रदेश में उनके गान की बड़ी प्रसिद्धि है। सुना जाता है, उनके गीतों में इतनी करुणा है कि उन्हें सुन पाषाण भी विगलित हो जाते हैं। गायें तृण चरना छोड़ देती हैं, सरिता सिर पटक-पटककर विलाप करने लगती है, समीर भी थककर निःस्पन्द हो जाता है और प्रकृति में चतुर्दिक् आकुलता भर जाती है !

महाप्रभु : (क्षण-भर के लिए नेत्र मूँदकर ध्यानस्थ-से हो जाते हैं, फिर आँख खोलते हैं) अच्छा, अवश्य पधारें सूरदासजी ।

(सूरदासजी दो सेवकों के कन्धों का सहारा लिये आते हैं । उनकी मुख-मुद्रा में करुणा और दैन्य मानों मूर्त्तिमान् हो उठे हों । सेवकों की सहायता से सूरदास महाप्रभु के समक्ष जाकर साष्टांग प्रणाम करते हैं । दोनों सेवक भी भक्ति-भाव से साष्टांग प्रणाम करते हैं ।

महाप्रभु : पधारिए सूरदासजी, पधारिए ! विराजिए इस आसन पर ।

(दोनों सेवक सूरदासजी को एक आसन पर बैठाकर पीछे हटकर बैठ जाते हैं । सूरदासजी के सामने उनका एक सेवक उनका एकतारा रख देता है ।)

सूरदास : आदिगन्त विस्तृत आपका यश आपके पहले ही यहाँ पहुँच चुका था, महाप्रभु ! बहुत दिनों से उत्कट लालसा थी आपके दर्शन की । दक्षिण और काशी के महापण्डितों को पराजित कर सुदृढ़ भक्तिमार्ग की स्थापना करनेवाले आपके चरणस्पर्श से मैं धन्य हो गया भगवन् !

महाप्रभु : चित्त परम प्रसन्न हुआ तुम्हारे इस मिष्ठ भाषण से। पर अब भगवान् का यश-वर्णन करो, सूरदासजी !

सूरदास : जो आज्ञा भगवन् !

(सूरदास अपना एकतारा उठाकर उस पर स्वर-सन्धान करते हुए गान करते हैं ।)

प्रभु मैं ! सब पतितन को टीको ।
और पतित सब द्योस चारिके, मैं तो जनमत ही को ।
बधिक अजामिल गनिका तारी, और पूतना ही को ।
मोहिं छाँड़ि तुम और उधारे, मिटै सूल कैसे जी को ।
कोउ न समरथ सेव करन को, खैंचि कहत हौं लीको ।
मरियत लाज सूर पतितन में कहत सबन में नीको ।

(इस गान के स्वर सबके मर्म का स्पर्श करते हैं, सबके नेत्र आर्द्र हो उठते हैं।)

महाप्रभु : भगवान् के निकट इस प्रकार का दैन्य भी धन्य हो जाता है, सूरदास ! कारण, प्रभु के प्रति उच्च कोटि के आत्मोत्सर्ग का मार्ग इसी से प्रशस्त होता है। पर, तुम्हारे-जैसे स्वर और शब्द के असाधारण शिल्पी का इस प्रकार निरन्तर आत्मग्लानि की भावना में डूबे रहना भी तो श्रेयस्कर नहीं, कुछ उल्लासमयी भगवल्लीला का वर्णन क्यों नहीं करते ?

सूरदास : उल्लासमयी भगवल्लीला का तो मुझे स्फुरण ही नहीं होता, महाप्रभु !

महाप्रभु : इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं। मैं भारत का भ्रमण करके आ रहा हूँ। देश में मुसलमानी साम्राज्य अच्छी तरह दृढ़ हो चुका है, इस्लामी संस्कृति का प्रभाव धीरे-धीरे जम रहा है। असंख्य पीरों और पैगम्बरों के द्वारा उसका प्रचार-कार्य चल रहा है। देश और काल की इस अत्यन्त विपरीतावस्था में वेद-मार्ग का अनुसरण असम्भव हो गया है। फलस्वरूप, भारतीय जनता का हृदय दैन्य और निराशा के अन्धकार से आच्छादित है। उसमें उत्फुल्लता और उल्लास का लेश भी शेष नहीं है। इस परिस्थिति में समाज में जिन आत्मघाती प्रवृत्तियों का उदय हो रहा है, उनके निराकरण का एकमात्र मार्ग भगवद्भक्ति है। अतएव, भगवल्लीला का गायन करके धर्म-स्वरूप भगवान् की भक्ति की ओर जनता की चित्तवृत्ति आकृष्ट करो, सूरदास !

सूरदास : किस प्रकार की भगवल्लीलाओं का गान महाप्रभु को अभीष्ट है ?

महाप्रभु : मैं उन भगवल्लीलाओं का गान चाहता हूँ, जिनकी प्रेरणा से जन-जन के मन, वचन और कर्म की सब शुभ वृत्तियों का अभ्युदय हो, शील और सौन्दर्य के उदात्त आदर्शों में एक बार फिर जनता की श्रद्धा जाग्रत् हो; और समाज स्वतः प्रेरित होकर लोक की

रक्षा और पालन-पोषण करनेवाले सदाचार के मार्ग का अनुसरण करने लगे।

सूरदास : भगवान् के किस नाम और रूप का आश्रय ग्रहण कर इस प्रकार की लीलाओं का साक्षात्कार किया जा सकता है, प्रभु !

महाप्रभु : पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण की शरण में जाओ, उनके नाम और रूप में अपनी चित्तवृत्तियाँ लीन कर दो। तुमको उनकी सच्चिदानन्दमयी बाललीला और प्रेमलीला का प्रत्यक्ष अनुभव होगा, और यही अनुभव तुम्हारी वाणी का महासागर बनकर दग्ध मानव के प्राणों को चिरकाल तक शीतल करता रहेगा। जातीय जीवन के मरु में तुम्हारे स्वर अमृत के मेघ बनकर बरसेंगे, चारों ओर प्राणों की हरियाली छा जायगी। भगवान् के बाल और कैशोर जीवन की ललित लीलाओं की झाँकी पाकर लोक-मानस में नवीन आशा का संचार होगा। अपने समाज के मंगलमय भविष्य में लोगों की निष्ठा एक बार फिर उत्पन्न होगी, और मुमूर्षु प्राय अपना यह महान् राष्ट्र संजीवन प्राप्त करेगा।

सूरदास : किन्तु महाप्रभु, इस दुविध-आँधरे सूर के हृदय में तो अविद्या का ऐसा गहरा अन्धकार छाया है कि भगवल्लीला की एक भी किरण इसमें संचरण नहीं कर पाती। मुझे प्रकाश दिखाइए, मैं आपकी शरण में हूँ।

महाप्रभु : उद्विग्न होने का कोई कारण नहीं, सूरदास ! निकट आओ, मैं तुम्हें भगवान् कृष्ण की शरणागति का मन्त्र बताता हूँ, तत्काल तुम्हारा परम कल्याण होगा।

(सूर महाप्रभु की ओर कुछ बढ़ जाते हैं। महाप्रभु उनके शिर पर अपना हाथ रखकर कुछ देर ध्यानस्थ-से स्थित होते हैं। सूर का शरीर रोमांचित हो जाता है, फिर वह कुछ काँपते हुए दिखाई देते हैं। समस्त वातावरण किसी विद्युत् के तीव्र आवेग से भरा हुआ प्रतीत होता है। कुछ क्षणों के पश्चात् स्थिरता आने

पर महाप्रभु सूरदास के कानों में बहुत धीरे से कुछ कहते हैं। उसे सुनकर सूरदास और भी स्थिर हो जाते हैं, प्रायः स्तब्ध। उनकी आँखों में आँसू भी छलछला आते हैं, और वे भाव-विभोर-से अपने आप ही कुछ कहने लगते हैं। उनका स्वर धीरे-धीरे स्पष्ट होने लगता है, महाप्रभु उनके सिर से अपना हाथ हटाकर पुनः अपनी सहज मुद्रा में आसीन होते हैं।)

सूरदास : आज.........बहुत दिनों के बाद पकड़ में आये! उस दिन निर्बल समझकर हाथ छुड़ाकर चले गये थे, वह घटना बहुत पुरानी होते हुए भी आज नई बन गई है! पर, अब इस हृदय से निकलकर जाओ तो जानूँ!.........इस हृदय-दोल पर अब मैं तुमको यशोदा की तरह निरन्तर झुलाऊँगा!.........गोपबालों के समान सदैव तुम्हारी गोष्ठलीलाओं का सहचर रहूँगा!.........व्रज की प्रेम और त्यागमयी गोपिकाओं के समान अहर्निश तुम्हारे रास-रस में प्रमत्त रहूँगा! ....एक क्षण को भी कहीं छूट कर जाने का प्रपंच रचा, तो रो- रोकर आँसुओं के समुद्र भर दूँगा, चातक की व्यथा भी मेरा करुण क्रन्दन सुन- कर मन्द हो जायगी!......... नाथ, अब वियोग सम्भव नहीं!

(एकतारा उठाकर गाने लगते हैं।)

चकई री चलि चरण सरोवर जहाँ न प्रेम वियोग;
निसि दिन कृष्ण नाम की वर्षा भय रुज नहिं दुख-सोग।
जहाँ सनक से मीन, हंस सिव मुनिजन नखरवि प्रभा प्रकाश;
प्रफुलित कमल, निमिष नहिं ससि डर, गुंजत निगम सुवास।
जेहि सर सुभग मुक्ति-मुक्ता फल, सुकृत अमृत-रस पीजै;
सो सर छोड़ि कुबुद्धि बिहंगम इहाँ कहाँ रहि कीजै।

महाप्रभु : साधु, साधु सूर! अब तुम मेरे साथ गोकुल चलो, वहाँ भगवान् श्रीनाथ की कीर्त्तन-सेवा का भार तुम्हारे ऊपर रहेगा।

सूर : जो आज्ञा, महाप्रभु!

(पटाक्षेप)

दूसरा दृश्य

[स्थान : गोवर्द्धन पर भगवान् श्रीनाथ का मन्दिर।

भगवान् श्रीनाथ की मूर्त्ति के सामने बैठे हुए भाव-विभोर सूर करताल से ताल देते हुए गा रहे हैं।]

शोभित कर नवनीत लिए।
घुटुरुन चलत रेनु-तन मंडित मुख दधि-लेप किए॥
चारु कपोल लोल लोचन-छवि रोचन तिलक दिए।
लट-लटकनि मधुमत्त मधुपगन, मादक मधुहिं पिए॥
कठुला कंठ, वज्र केहरि नख राजत रुचिर हिए।
धन्य सूर एकौ पल इहि सुख का सत कल्प जिए॥

(गान समाप्त कर मूर्त्ति के सामने भूमिष्ठ हो जाते हैं, फिर उठकर धीरे-धीरे अपने-आप ही गुनगुनाने लगते हैं।) बड़े नटखट हो जी! कैसे तुमको रोककर रखा जाय? यशोदा की साँटियों का तुम्हें भय नहीं, गोपियों की भर्त्सना की लज्जा नहीं! बाँधे जाते हो, तो बड़े-बड़े पेड़ जड़ से गिरा देते हो! हर एक बात की एक सीमा होनी चाहिए, पर तुम जैसे सीमा जानते नहीं। तुम्हारी गति तो कहने में नहीं आती!

[इसी समय दो व्यक्ति प्रवेश करते हैं, दोनों की आकृति और वेश-भूषा से आभिजात्य प्रकट होता है।]

दोनों : प्रणाम, भक्तराज! हम प्रवेश कर सकते हैं?

सूरदास : आओ भाई, आओ! यह तो भगवान् का मन्दिर है। मनुष्यमात्र को इसमें प्रवेश का अधिकार प्राप्त है। भगवान् का द्वार स्त्री-पुरुष, द्विज-शूद्र, हिन्दू-अहिन्दू, सजातीय-विजातीय सबके लिए सब समय खुला है। यहाँ किसी के लिए रोक-टोक नहीं, कोई भेद-भाव नहीं। आओ भाई, स्वागत है तुम्हारा! भगवान् के दर्शन करो और प्रसाद पाओ।

(दोनों आकर पहले भगवान् की मूर्ति के समक्ष नतमस्तक होते हैं, और फिर सूर के चरण-स्पर्श करते हैं।)

सूर : भगवान् बालकृष्ण तुम्हारा परम कल्याण करें। आओ, आसन ग्रहण करो ! (दोनों सूर के सामने पड़े आसन पर बैठते हैं !)

एक : धन्य हो गया भक्तराज आपके दर्शन पा करके।

दूसरा : बहुत दिनों से आपके दर्शन की लालसा थी, आज पूरी हुई।

सूर : ऐसा क्या है मुझमें, भाई ? डूब रहा था, महाप्रभु ने उबार लिया। उन्होंने ही मुझे श्रीनाथजी की कीर्त्तन-सेवा का यह भार सौंपा। अनेक वर्षों से यही करता आ रहा हूँ ! भगवान् की सरस लीलाओं का नीरस पदों में गान करता हूं ! यह चाकरी भी ठीक से नहीं बनती। पर, मुझपर इतनी ममता रखनेवाले आप लोग कौन हैं, अपना परिचय तो दीजिए !

पहला : भक्तराज, आपके सामने स्वयं देशाधिपति शाहंशाह अकबर बैठे हैं, और मैं उनका सेवक तानसेन हूँ।

सूरदास : आप संगीत-सम्राट् तानसेन और आपके साथ दिल्लीश्वर अकबर ! धन्य है यह सहृदयता, मैं आभारी हूं ! पर, मैं आपलोगों की क्या सेवा कर सकता हूँ, सम्मानित अतिथिदेव ?

अकबर : आपका आशीर्वाद ही मेरे लिए बहुत है, सन्त-श्रेष्ठ ! आपने भगवान् विष्णु की लीला के अनेक पद गाये हैं, मुझे भी उन्हीं की कृपा से इतना विशाल राज्य प्राप्त है, अनेक चारण, कवि और गुणीजन मेरा यशोगान करते हैं ! आप भी कुछ सुना दें मुझे, भक्त-शिरोमणि !

सूरदास : भगवान् की लीला के अतिरिक्त और कुछ गाना और सुनाना तो मैं जानता नहीं, श्रीमान् ! वही सुनाता हूँ, सुनिए—

निसिदिन बरसत नैन हमारे।
सदा रहत पावस-ऋतु हम पै, जबते स्याम सिधारे॥
दृग अंजन न रहत निसि बासर, कर कपोल भए कारे।
कंचुकि पट सूखत नहि कबहूँ, उर बिच बहत पनारे॥

ऐसे सिथिल भई सब काया, पल न जात रिस टारे।
सूरदास प्रभु यही परेखौ, गोकुल काहे बिसारे ॥

अकबर : धन्य हो गया भक्तराज, आपके मुख से आपका यह पद सुनकर। तानसेन, तुम ठीक कहते थे :

किधौं सूर को सर लग्यो, किधौं सूर की पीर;
किधौं सूर को पद लग्यो, बेध्यो सकल सरीर।

तानसेन : मेरी जीवन-व्यापी संगीत-साधना सफल हो गई, भक्तराज ! कृतार्थ हो गया, आपकी वाणी का प्रसाद पाकर।

सूरदास : संगीत-सम्राट् ! आपकी वाणी का अमर प्रसाद मुझे भी तो प्राप्त हो ! आप भी हमारे श्रीनाथजी को कुछ सुनायें !

अकबर : हाँ तानसेन, अवश्य सुनाओ एक पद !

तानसेन : जो आज्ञा, भक्तराज ! मैं आपको आपका ही एक पद सुनाता हूँ। यह पद शाहंशाह को भी बहुत प्रिय है।

(तानसेन सूरदास का एकतारा लेकर उसपर स्वर-साधन करते और गाते हैं।)

हौं तो मोहन के बिरह जरी, रे तू कत जारत।
रे पापी तू पंखि पपीहा 'पिउ पिउ पिउ' अधिराति पुकारत ॥
सब जग सुखी, दुखी तू जल बिनु तऊ न तन की ब्रिथहि बिचारत।
सूर स्याम बिनु ब्रज पर बोलत, हठि अगिलोऊ जनम बिगारत ॥

सूरदास : आप सचमुच स्वर और तान के एकच्छत्र सम्राट् हैं, तानसेनजी ! आपके सम्बन्ध में यह ठीक ही कहा गया है :

बिधना यह जिय जानि के, सेस न दीने कान।
धरा मेरु सब डोलते, तानसेन की तान।

भगवान् आपका मंगल करें ! मैं अब आपलोगों का और क्या प्रिय कर सकता हूँ।

तानसेन : सन्त-शिरोमणि, आपने ईश्वर का गुणानुवाद तो खूब किया, पर अब शाहंशाह के लिए भी श्रीमुख से कुछ कह डालिए।

सूरदास : तानसेनजी ! भक्त के लिए तो एक ही शाहंशाह है, वह हैं श्रीनाथजी। चारों ओर उन्हीं का साम्राज्य फैला है, हम सब लोग, स्वयं दिल्लीपति अकबर भी, उनके क्षुद्र सेवक-मात्र हैं। मेरे इन कानों को और किसी का यश सुनने का अवकाश नहीं, जिह्वा को भगवन्नाम के अतिरिक्त और किसी प्रकार के कथन में कोई स्वाद नहीं, प्यासे नेत्रों में भगवान् कृष्ण के रूप के अतिरिक्त और कुछ देखने की आकांक्षा नहीं।

अकबर : भक्तराज, आप तो चक्षु-हीन हैं, आपके नेत्रों की प्यास का रहस्य समझ में नहीं आता।

सूरदास : दिल्लीपति, तुम भी मेरी तरह अपने नेत्र बन्द करके देखो नन्द-भवन में होनेवाली गोपाल की बाल-लीला। अपने श्रवणों की बहिर्मुखी गति अवरुद्ध कर गोप-मण्डली-मण्डित घनश्याम की वंशी की भुवनमोहनी स्वर-माधुरी का आस्वादन करने का प्रयत्न करो। अपने हृदय को वृन्दावन की उनकी निकुंज-लीलाओं में लवलीन कर तुम भी अपने को एक भाव-विभोर गोपी बन जाने दो। तब तुमको मेरे नेत्रों की प्यास का रहस्य समझ में आयगा, तब तुम भी मेरी तरह विवश होकर गा उठोगे :

जो विधना अपबस करि पाऊँ।
तौ सखि कह्यो होई कछु मेरी, अपनी साध पुराऊँ॥
लोचन रोम-रोम प्रति माँगौं, पुनि-पुनि त्रास दिखाऊँ।
इकटक रहैं पलक नहिं लागैं, पद्धति नई चलाऊँ॥
कहा करौं छबि राशि श्यामघन, लोचन द्वै नहिं ठाऊँ।
येते पर ये निमिष सूर सुनि, यहि दुख काहि सुनाऊँ॥

अकबर : मैं कृतकृत्य हो गया, भक्तराज ! आप मेरी कोई सेवा स्वीकार कीजिए, कुछ आज्ञा दीजिए, कुछ माँगिए। बड़ी-से-बड़ी मूल्यवान् वस्तु, अपना सर्वस्व, मैं सहर्ष आपको अर्पित कर सकता हूँ।

सूरदास : दिल्लीपति, मैं आपसे क्या माँगूँ ? किसी बात का मुझे अभाव नहीं, और न कोई आवश्यकता ही शेष रह गई है ? भगवान् श्रीनाथजी से यह माँगता हूँ कि वह आपके विवेक के नेत्र खोल दें, आपको भगवद्शक्ति और वैराग्य आदि दैवी सम्पदाओं की प्राप्ति हो।

अकबर : नहीं भक्तराज ! फिर भी कुछ कहिए, मुझे कैसे सन्तोष होगा ?

तानसेन : हाँ-हाँ भक्तराज ! यह अवसर न चूकिए। दिल्लीपति गुणियों के कल्पवृक्ष हैं, श्रीमुख से कुछ कहिए अवश्य। आपकी प्रत्येक याचना सफल होगी।

सूरदास : तानसेन, तो फिर दिल्लीश्वर से मेरी यह याचना है कि वह फिर कभी यहाँ पधारने का कष्ट न करें। मुझे जो राज्य मिल चुका है, उसके सामने संसार का बड़ा-से-बड़ा साम्राज्य तुच्छ है।

(पटाक्षेप)

तीसरा दृश्य

स्थान : गोकुल।

[गोकुल में नवनीतप्रियजी के मन्दिर में भगवान् के संकीर्त्तन का विराट् आयोजन है। सब स्थानों के विशिष्ट साधु-सन्त पधारे हैं। सूरदास, परमानन्ददास, कुम्भनदास आदि सभी लोग हैं। भगवान् की आरती हो रही है। सब लोग मिलकर गान कर रहे हैं।]

प्रभुजी की आरती बनी।
अति विचित्र रचना रचि राखी, परति न गिरा गिनी॥
कच्छप अध-आसन अनूप अति डाँड़ी सहसफनी।
मही सराव, सप्त सागर घृत, बाती सैल घनी॥
रवि-ससि जोति जगत परिपूरन, हरत तिमिर रजनी।

उड़त फूल उड़गन नभ-अंतर, अंजन घटा घनी ।।
नारदादि सनकादि प्रजापति, सुर नर असुर अनी ।
काल, कर्म, गुन ओर अन्त नहिं, प्रभु इच्छा रचनी ।।
यह प्रताप दीपक सुनिरन्तर, लोक-सकल भजनी ।
सरदास सब प्रकट ध्यान मैं, अति विचित्र सजनी ।।

(आरती समाप्त होती है, सब लोग भगवान् की मूर्त्ति को साष्टांग प्रणाम करते हैं, और यथास्थान विराजते हैं ।)

कुम्भनदास : (परमानन्ददास से) सुना है, अवध से कोई महात्मा तुलसीदास आजकल व्रज को पधारे हैं । चारों ओर उनकी बड़ी चर्चा है, क्यों भाई ?

परमानन्ददास : ठीक ही है । सुना है, कल वह श्रीनाथजी के दर्शन और सूरदासजी से भेंट करने गोवर्धन गये थे । पर, सूरदासजी तो यहीं थे ।

सूरदास : मुझसे मिलने और श्रीनाथजी के दर्शन करने गोवर्धन गये थे ? क्या राम के भक्त हैं अवध के वह तुलसीदास ?

परमानन्ददास : हाँ तात, बड़े प्रतापी हैं वह । उनकी ख्याति यहाँ सब ओर है ।

कुम्भनदास : सुना है, गोवर्धन से वह सीधे नवनीतप्रियजी के दर्शन करने यहाँ आयेंगे, सूरदासजी से भेंट करने का उनका उद्देश्य प्रमुख प्रतीत होता है ।

चतुर्भुजदास : सखाओ ! मैंने सुना है कि श्रीनाथजी के मन्दिर में उनके जाते से अद्भुत चमत्कार घटित हुआ ।

सब लोग : क्या हुआ ? क्या हुआ ?

चतुर्भुजदास : तात, मन्दिर में प्रविष्ट होकर ज्यों ही भाव-विभोर-से वह भगवान् श्रीनाथ के समक्ष प्रणत हुए, वैसे ही श्रीनाथजी की मूर्त्ति दशवदन-निधनकारी राम की मूर्त्ति में बदल गई । श्रीनाथजी ने मुरली छोड़कर धनुष-बाण उठा लिया ।

सूरदास : हमारे श्रीनाथजी ने मुरली छोड़कर धनुष-बाण उठा लिया ? धन्य हो भक्त-वत्सल गोपाल ! धन्य तुलसीदास !

(आँखों से अश्रुपात होने लगता है)

कुम्भनदास : अश्रुतपूर्व है यह घटना, निःसन्देह दर्शनीय हैं वह तुलसीदास।

सूरदास : तात ! मेरे हृदय में भी उनसे मिलने की बलवती इच्छा जाग्रत् हो गई है।

(एक साधु प्रवेश करता है।)

साधु : (**कुम्भनदास से**) तात ! अवध के महात्मा तुलसीदासजी नवनीतप्रियजी के दर्शनार्थ आना चाहते हैं, वह द्वार पर आप लोगों की अनुमति की प्रतीक्षा में खड़े हैं।

सूरदास : भैया कुम्भनदास, सखा परमानन्द ! आप लोग जाकर आदरपूर्वक तुलसीदासजी को ले आवें।

[सब लोग जाकर तुलसीदासजी के साथ लौटते हैं। तुलसीदासजी की अवस्था इस समय पचास के ऊपर प्रतीत होती है। फिर भी उनका शरीर पुष्ट है, उनकी रामनामांकित आजानुविलम्बित भुजाएँ तथा प्रशस्त वक्षस्थल उनके व्यक्तित्व के प्रधान आकर्षण हैं। उनका श्मश्रुविहीन मुखमण्डल बड़ा तेजस्वी है, आयत नेत्रद्वय प्रतिभा की प्रखर किरणें विकीर्ण करते हैं। उनके उन्नत ललाट और लम्बी सौम्य आर्य नासिका पर रामानन्दी तिलक अंकित है। उनके एक हाथ में तुलसी की माला और दूसरे में कमण्डलु है। वह आते ही पहले नवनीतप्रियजी को साष्टांग प्रणाम करते हैं, और फिर उसी प्रकार सूरदासजी और उनके समवयस्क साधुओं के समक्ष अभिवादन करते हैं। सूरदासजी उठकर उनकी ओर अपनी बाहें फैला देते हैं। तुलसीदासजी दौड़कर उनके कण्ठ से लिपट जाते हैं।]

सूरदास : स्वागत महात्मा तुलसीदासजी ! आपसे मिलकर मुझे इस वृद्धावस्था में आज उतना ही आनन्द प्राप्त हो रहा है, जितना पहले-पहल महाप्रभु के दर्शन कर प्राप्त हुआ था। विराजिए आसन पर।

(तुलसीदास एक आसन पर बैठते हैं।)

तुलसीदास : मैंने निरन्तर सोलह वर्ष तक अपने इस विशाल देश का परिभ्रमण किया है। शैल, समुद्र, सरिता, सरोवर, अरण्य, जनपद, नगर-नगर एवं ग्राम-ग्राम में सुविस्तृत, मातृभूमि के पुण्य कलेवर के मैंने दर्शन किये हैं। उस दर्शन से अर्जित पुण्य के फलस्वरूप मुझे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण के पुनीत लीलाधाम व्रजभूमि के दर्शन उपलब्ध हुए, और इस व्रजभूमि के अतीत और वर्त्तमान का सारा आध्यात्मिक भाव-वैभव मुझे आपके रूप में मूर्त्तिमन्त दिखाई पड़ा। आज आपके दर्शन प्राप्त कर मेरा जीवन सफल हो गया।

सूरदास : आपने निरन्तर सोलह वर्ष तक परिव्राजक रहकर मातृभूमि की ममतामयी पुण्यमूर्त्ति के दर्शन किये हैं, वन्दनीय हैं आप। देश की क्या अवस्था है इस समय, तात !

तुलसीदास : आप युग-युग के अद्वितीय महाकवि हैं भक्तशिरोमणे ! आपकी अन्तर्दृष्टि के समक्ष सब कुछ स्पष्ट है। आपकी निर्मल प्रज्ञा क्या नहीं समझती ? आप तो जानते ही हैं तात, इस समय देश का सांस्कृतिक अपकर्ष चरम सीमा को पहुँचा हुआ है। अपना राष्ट्र शताब्दियों की सान्ध्य घनमाला की अराल भृकुटी के नीचे निष्प्राण पड़ा है। उसका पूर्व गौरव ध्वस्त है, जातीय जीवन के महानद परकीय संस्कृति के समुद्र की ओर द्रुत गति से प्रवहमान हैं। चारों ओर अज्ञान, निराशा, कायरपन और कामपरता का अन्धकार-ही-अन्धकार छाया हुआ है।

सूरदास : इस अन्धकार में व्रजचन्द की चन्द्रिका तो छिटकेगी ही, प्यारे !

तुलसीदास : छिटकेगी अवश्य और प्रभात भी होगा, किन्तु मार्ग में अनेक अन्तराय हैं। अभी तो संस्कृति का सूर्य दीर्घकाल के लिए अस्तंगत दिखाई पड़ता है। देश में विजातियों, विधर्मियों और विदेशियों का शासन है, दासता की भयावह तमिस्रा में दिशाकाश खो गये हैं। राष्ट्रीय चेतना के सूर्य को आत्मविस्मृति के राहु ने ग्रस लिया है। कुसंस्कारों का दुर्भेद्य आवरण जन-जन के मन और प्राण को जड़ीभूत किये हुए है। देश असंख्य मत-मतान्तरों, सम्प्रदायों और जाति-उपजातियों में बँटा हुआ है, वे सब निरन्तर पारस्परिक संघर्ष में रत रहते हैं। वर्ण-व्यवस्था विशृंखल हो गई है। ब्राह्मण वेद और पुराण बेचकर अपना पेट पालने लगे हैं। सच्चे क्षत्रिय असंगठित होने के कारण युद्धों में वीरगति पा चुके अथवा पाते जा रहे हैं। जो बच रहे हैं, वे सूत और चारणों के समान विदेशी शासकों की चाटुकारिता कर गर्हित भोगपरायण जीवन बिता रहे हैं। शूद्रों को अपनी सेवा के बदले अपमान-ही-अपमान मिल रहा है। दरिद्रता के दशानन ने धरती को सब ओर से आक्रान्त कर रखा है, लोग दाने-दाने को मुँहताज हैं। बार-बार अकाल पड़ते हैं, और लक्षावधि जन पेड़ों की पत्तियाँ या वल्कल खाकर अथवा निराहार रहकर तड़प-तड़पकर क्षुद्र कीट-पतंगों के समान प्राण त्याग देते हैं। देश की यह दुरवस्था देखी नहीं जाती, महात्मन् !

सुरदास : ठीक कहते हो, तात ! महाप्रभु की प्रेरणा से मुझे भी इस स्थिति का अनुभव हुआ था। जातीय संस्कारों की धरती को असुरों से पद-दलित होते हुए देखकर ही मैंने भगवान् की लोक-मंगल-विधायिनी लीलाओं के गान का उपक्रम किया था। मेरे साथ ही मेरे अन्य सात बन्धुओं ने भी भगवल्लीला-गान में सहयोग प्रदान किया, वे ही सब लोग गोसाईंजी द्वारा अष्टछाप के नाम से अभिहित किये गये।

तुलसीदास : आपकी महिमामयी साधना का अभीष्ट प्रभाव भी हुआ है। जहाँ-जहाँ आपकी दिव्य वाणी की वीणा झंकृत हुई है, वहाँ-वहाँ नवीन चैतन्य का संचार हुआ है। मरता हुआ देश आपके स्वरों की संजीवनी प्राप्त कर जीवित हो गया है। पुण्य के उखड़ते हुए पैर आपकी हाँक सुनकर जम गए हैं। सात ही क्यों, अगणित कण्ठों में आपके स्वर मुखर हो उठे हैं, असंख्य हृदयों में आपके गीतों की प्रतिध्वनि हुई है। भगवान् कृष्ण की मनोहारी लीलाओं का गान सुनकर जनता को कष्ट सहन करने की शक्ति और इस जातीय महासंकट के पार जाने की दृढता प्राप्त हुई है। आपने शील और सौन्दर्य के जिन उदात्त आदर्शों की रागात्मक अभिव्यंजना की है, उन्होंने विजातियों और विधर्मियों को भी बलात् अपनी ओर खींचा है, क्या यह कोई साधारण घटना है ? पर महाप्रज्ञ ! आपके दिखाये हुए मार्ग पर चलकर अभी बहुत कुछ करना है।

सूरदास : संजय की-सी दृष्टि प्राप्त है आपको ! तात, देश की वर्त्तमान स्थिति में आपकी योजना क्या है ?

तुलसीदास : व्रजचन्द के अभिन्न सहचर, मैं तो आपसे ही आशीर्वाद और मार्ग-दर्शन प्राप्त करने के लिए यहाँ आया था। आपके इष्टदेव ने मुझे अभीप्सित पथ-प्रदर्शन किया भी !

सूरदास : मेरे इष्टदेव ने पथ-प्रदर्शन किया, सो कैसे तात ?

तुलसीदास : भगवान् श्रीनाथजी ने मेरे प्रणत होते ही मुरली छोड़कर धनुष-बाण उठा लिया। विश्वविमोहनकारी कृष्ण का बाल-विग्रह रावण-रिपु राम के रूप में परिणत हो गया। तत्काल मुझे नवीन चेतना के उदय की आवश्यकता का संकेत मिला। मुझे विश्वास हो गया कि भगवान् को अब शील और सौन्दर्य के लोकरंजनकारी आदर्शों के साथ शक्ति के परमोदात्त लोकपालक, स्थिति-विधायक आदर्शों का समन्वय अभीष्ट है। समन्वय ही विभिन्न दिशाओं में विघटित

होते हुए छिन्न-भिन्न समाज की सबसे बड़ी आवश्यकता है। भगवान् श्रीनाथ ने तो यह भी बता दिया कि उनके मर्यादा-पुरुषोत्तम रामस्वरूप में समन्वय का सर्वोच्च आदर्श निहित है। हम सबको उनके बताए हुए मार्ग पर चलकर अपनी साधना से जड़ भारत का उद्धार करना है।

सरदास : भगवान् श्रीनाथ के विग्रह-परिवर्त्तन का यह रहस्य ! धन्य हो तात तुलसी ! त्रिकालदर्शी ऋषियों की-सी आपकी यह प्रज्ञा देश का अशेष कल्याण करेगी।

तुलसीदास : आप मेरे आदरणीय अग्रज हैं, मैं तो आपका अनुगत-मात्र हूँ। पर, मैं यह अनुभव करता हूँ कि आज इस देश के कवियों और साधुओं पर ही देश की सांस्कृतिक स्वतन्त्रता का आन्दोलन चलाने का दायित्व है। राजनीतिक स्वतन्त्रता का आन्दोलन वीर सैनिकों द्वारा परिचालित होता है, और सांस्कृतिक स्वतन्त्रता का आन्दोलन कवियों और कलाकारों द्वारा। राजनीतिक स्वतन्त्रता भौतिक होने के कारण अपेक्षाकृत अल्प-आयास-साध्य है, पर सांस्कृतिक स्वाधीनता का धरातल मानसिक और आध्यात्मिक है। इसलिए, उसकी सुरक्षा और प्रगति के लिए जिन उपादानों की आवश्यकता है, उनका सर्जन और संवर्धन आध्यात्मिक शक्ति-सम्पन्न महापुरुषों के द्वारा ही सम्भव है। वस्तुतः सांस्कृतिक स्वाधीनता को खोकर कोई देश बहुत दिन तक जीवित नहीं रह सकता। सांस्कृतिक दृष्टि से पराधीन जातियों में मानसिक दासता बद्धमूल हो जाती है। ऐसी जातियाँ अपनी राजनीतिक स्वतन्त्रता को भी स्थायी नहीं रख पातीं। वे उसे प्राप्त करके भी खो देती हैं। जिन देशों की सांस्कृतिक स्वतन्त्रता सुरक्षित रहती है, उनमें राजनीतिक स्वाधीनता प्राप्त करने की क्षमता रखनेवाले वीर भी यथासमय आविर्भूत होते हैं। सांस्कृतिक स्वाधीनता की कल्पलता में राजनीतिक स्वतन्त्रता का सुफल फलता ही है, अतएव आपके नेतृत्व

में हम सबको राष्ट्र की सांस्कृतिक स्वाधीनता का विराट् आन्दोलन प्रवर्त्तित करना है।

सूरदास : ठीक कहते हो, तात ! जीवन में नया प्रवाह लाने की आवश्यकता है। सांस्कृतिक अपकर्ष से द्वन्द्वयुद्ध करने के लिए देश को सन्नद्ध करना है। हमारी आर्ष-संस्कृति में मानवता की मुक्ति के बीजमन्त्र सन्निहित हैं। मानव-मात्र के भविष्य का मंगल और कल्याण उस-पर निर्भर है। इसलिए, प्राणपण से उसकी रक्षा का उद्योग होना चाहिए। पर प्रिय तुलसी ! मेरे जीवन की तो सन्ध्या आ गई है, यह सब होगा और तुम्हारे द्वारा होगा। तब मैं अपने हृदय के अन्तस्तल से तुमको आशीर्वाद देता हूँ कि तुम वाल्मीकि, व्यास और कालिदास से भी बढ़कर यश प्राप्त करो।

तुलसीदास : देव, आपने अपनी महिमामयी साधना से आध्यात्मिकता के जिस रसार्णव की सृष्टि की है, जातीय जीवन के प्रवाह को उधर उन्मुख करना है। पर उसके मार्ग में अनेक जड़ प्रतिबन्ध हैं, उनको मैं 'रामचरितमानस' की कल्मष-विध्वंसिनी चेतनोर्मियों से दूर करूँगा। मेरी 'विनयपत्रिका' भी प्रभु के पास जायगी। मुझे आपका आशीर्वाद सफल करने की शक्ति प्राप्त हो, यही कामना है।

सूरदास : अच्छा, तात ! यहाँ समवेत भक्तमण्डली तुम्हारे मुख से कुछ सुनना चाहती है।

तुलसीदास : जो आज्ञा। सुनिए :

सियराम सरूप अगाध अनूप, विलोचन मीनन को जलु है।
श्रुति राम-कथा, मुख राम को नाम, हिये पुनि रामहिं को थलु है॥
मति रामहिं सों, गति रामहिं सो, रति राम सों रामहिं को बलु है।
सबकी न कहैं तुलसी के मते, इतनो जगजीवन को फलु है॥

सब लोग : धन्य ! धन्य ! !

(पटाक्षेप)

३. महाकवि रहीम

पात्र-परिचय

रहीम : अब्दुर्रहीम खानखाना, प्रसिद्ध कवि और मुगल-सम्राट् अकबर के सेनापति

महाराणा प्रताप : हिन्दू-सूर्य, प्रातःस्मरणीय चितौर-नरेश

अकबर : मुगल-सम्राट्

मानसिंह : जयपुर-नरेश

पृथ्वीराज : बीकानेर-नरेश, डिंगल के प्रसिद्ध कवि

फरीद खाँ : अकबर का सेनापति

भावा शाह : मेवाड़ के प्रसिद्ध दानवीर, महाराणा प्रतापसिंह के मन्त्री

अमरसिंह : मेवाड़ के युवराज, महाराणा प्रताप के पुत्र

अबुल फजल, फैज़ी, बीरबल, टोडरमल } अकबर की सभा के रत्न

रहीम की पत्नी

रहीम की पुत्री

भील-सरदार, नेनापति, सैनिक, दौवारिक, परिचारक आदि

पहला दृश्य

स्थान : फतेहपुर सीकरी ।

[अकबर का दीवान-खास । बीच में अठपहलू खम्भे के सन्निकट तख्त पर मखमली आस्तरण । उसपर तकिया लगाये अकबर बैठा है । तख्त के दाहिने पार्श्व में अबुल फजल, फैजी, बीकानेर के महाराजा पृथ्वीराज और रहीम तथा दाहिने पार्श्व में मानसिंह, बीरवल और टोडरमल बैठे हैं । अकबर का व्यक्तित्व बड़ा रोबीला और प्रभावोत्पादक है । उसका रंग कुछ श्यामता लिये हुए गेहुँआ है, जवान आदमी की-सी मूँछें और छोटी दाढ़ी है । उसके सिर के लम्बे बाल पगड़ी के पीछे निकले हुए हैं, कपोलों तक गलमुच्छे शोभित हैं तथा देह पुष्ट और भरी हुई है । उसकी किंचित् लम्बी और खिची हुई आँखों की काली पुतलियों की विशेष प्रकार की चमक उसका चिन्तामग्न होना सूचित करती है । उसकी दृष्टि रहीम की ओर घूमकर कुछ स्निग्ध हो जाती है । रहीम की आकृति बड़ी सुन्दर है, देखने में युवा जान पड़ते हैं । आँखें बड़ी और तेजस्वी, भौंहें लम्बी और ओज से भरी हुई, उन्नत ललाट और सौम्य नासा, मुख पर चिन्तन की आभा फूटती हुई ।]

अकबर : खानखाना ! मेवाड़ में फरीदखाँ की हार की खबर पाकर मुझे बड़ा सदमा हुआ था । लेकिन तुम्हारी गुजरात की फतह ने मुगल-सल्तनत की प्रतिष्ठा बढ़ाई है । मुझे तुम्हारी वीरता पर अभिमान है ।

रहीम : **(खड़े होकर नतमस्तक होते हैं)** कृतार्थ हुआ, जहाँपनाह ! मैं तो मुगल-सल्तनत का एक अदना सिपाही और सेवक-मात्र हूँ ।

(बैठते हैं)

बीरबल : जहाँपनाह ! सुना है, खानखाना ने इस युद्ध में अद्‌भुत साहस और शौर्य का परिचय दिया। बहुत थोड़ी सेना लेकर उन्होंने सरखेज की लड़ाई में मुजफ्फर को पराजित किया और अहमदाबाद पर अधिकार कर लिया। फिर उसका पीछा करके उन्होंने उसे राजपीपला और नादौर में भी हराया, और इस प्रकार सारे गुजरात पर अधिकार कर लिया।

अकबर : यह बिलकुल सही है, महाराजा साहब !

पृथ्वीराज : मैंने यह भी सुना है कि युद्ध में विजय प्राप्त करने के पश्चात् उन्होंने अपनी सारी सम्पत्ति गरीबों में बाँट दी। युद्धवीरता और दानवीरता का अलौकि-रूप खानखाना में दिखाई पड़ता है।

रहीम : आप-जैसे महाकवि की प्रशंसा का भार उठाने का सामर्थ्य मुझमें नहीं, महाराजा साहब !

पृथ्वीराज : मेरी स्वभावोक्ति को अतिशयोक्ति क्यों समझ बैठे हैं खानखाना ! मैंने वही कहा है, जो आपसे लक्ष-लक्ष मुद्राएँ पुरस्कार में प्राप्त करनेवाले कविगण देश के कोने-कोने में जाकर कहते हैं।

अबुलफजल : बेशक, राजा साहब ! मुझे तो यकीन है कि खानखाना कभी इस जमाने के बहुत बड़ी हस्ती माने जायेंगे। तलवार और कलम दोनों के ऐसे धनी इस देश में बहुत नहीं हैं।

अकबर : मैंने भी खानखाना की भाषा की कविताओं की बड़ी प्रशंसा सुनी है, शेख साहब !

अबुलफजल : जहाँपनाह ! खानखाना देश-विदेश की बहुत-सी जबानों के माहिर हैं। कई जबानों में वह शायरी लिखते हैं। 'वाकयात बाबरी' और 'तुज़क बाबरी' का उन्होंने फारसी जबान में बहुत अच्छा उल्था किया है।

अकबर : मुझे यह जानकर बड़ी खुशी हुई। मैं भी उनको देखना चाहूँगा।

रहीम : शेख साहब उन्हें देख लें, तभी वे जहाँपनाह की सेवा में प्रस्तुत करने योग्य होंगी।

अकबर : बहुत ठीक ! (**मानसिंह की ओर मुड़कर**) महाराजा साहब ! मुझे फरीदखाँ के मेवाड़ से लौटने की खबर मिली थी। मैं यहीं उनसे मिलना चाहता था, अभी तक आये नहीं।

मानसिंह : आते होंगे, जहाँपनाह ! सूचना भेजी जा चुकी है ! (सशस्त्र द्वार-रक्षक प्रविष्ट होकर कोर्निश करता है, फिर हाथ बाँधकर सिपहसालार फरीदखाँ के द्वार पर उपस्थित होने की सूचना देता है। अकबर संकेत से उसे भीतर लाने की अनुमति देते हैं। सिर झुकाए हुए फरीदखाँ प्रवेश करते हैं और बादशाह के सामने नियमानुसार तीन बार कोर्निश करते हैं। उनके सिर पर न तो पगड़ी है और न कटिबन्ध में तलवार। उनके मुख पर गहरी उदासी छाई है।)

अकबर : (कड़ाई से) फरीदखाँ...! तुमने दरबारे-आम में प्रताप के खून से अपनी तलवार को नहलाने का बीड़ा लिया था, याद है ?

फरीदखाँ : (**लम्बी साँस लेकर**) बहुत अच्छी तरह याद है जहाँपनाह !

अकबर : तुम्हारी बहादुरी पर यकीन करके मैंने तुम्हें अपने हाथ से पगड़ी पहनाई थी, और कमर में अपनी तलवार बाँधी थी।

फरीदखाँ : सब कुछ याद है, खुदाबन्द !

अकबर : (**संयत रोष से**) तो फिर कहाँ है तुम्हारी वह पगड़ी और तलवार ?

फरीदखाँ : जहाँपनाह......!!

अकबर : (**तख्त पर तनकर सीधा बैठ जाता है, भौहें टेढ़ी हो जाती हैं, आवाज कुछ ऊँची**) साफ-साफ कहो फरीदखाँ ! तुम्हारी पगड़ी और तलवार का क्या हुआ ?

फरीदखाँ : (**सिर नीचा किए हुये, धीरे-धीरे**) जहाँपनाह ! पगड़ी और तलवार दोनों...महाराणा के कदमों पर...!

अकबर : (क्रोध से रक्तवर्ण होकर, किन्तु तत्काल अपने को संयत करके) तुमने शाही पगड़ी और तलवार की बेइज्जती की है, फरीदखाँ ! इसकी सजा जानते हो ?

फरीदखाँ : जानता हूँ, जहाँपनाह !......अब वह सजा ही मुझे राहत दे सकती है।

अबुलफजल : जहाँपनाह, फरीदखाँ से यह तो पूछ ही लिया जाय कि उन्होंने पगड़ी और तलवार कैसे गँवाई ?

अकबर : ठीक कहते हैं आप, शेख साहब ! (फरीदखाँ से) बोलो, यह सब कैसे हुआ ?

फरीदखाँ : जहाँपनाह, मैं अजमेर से पचास हजार चुने हुए पैदल और घुड़सवार लेकर कुम्भलगढ़ को चारों ओर से घेर लेने के इरादे से मेवाड़ में घुसा। वहाँ पहुँचते-पहुँचते बूँदी और जयपुर के पाँच-पाँच हजार घुड़सवार भी आकर मेरी फौज में शामिल हो गये। मैंने फौज को हुक्म दे रखा था कि वह फसलें बरबाद करती, गाँवों में आग लगाती और मेवाड़ की रियाया को कत्ल करती हुई चले।

फैजी : आपको इतने जुल्म करने की जरूरत क्यों महसूस हुई, सिपहसालार साहब ?

फरीदखाँ : मैंने सुना था कि प्रताप गाय, ब्राह्मण, औरत, बच्चे और प्रजा को तकलीफ में सुनकर बेताब हो उठता है, खासतौर से उसकी प्रजा उसे जान से भी ज्यादा प्यारी है। इसलिए, मैंने सोचा कि मेवाड़ की रियाया पर मेरी फौज के जुल्मों की कहानी जब प्रताप के कानों तक पहुँचेगी, तब वह अपनी बीहड़ पहाड़ी राजधानी छोड़कर तुरन्त नीचे उतर आयगा, और मैदान में घेरकर उसको शिकस्त देना आसान हो जायगा।

बीरबल : पर, क्या आपकी यह योजना सफल हो सकी, खाँ साहब ?

फरीदखाँ : नहीं, क्योंकि फौज को जो कुछ करने का हुक्म मैंने दिया था, वह करने की नौबत ही न आई। अपने रास्ते में पड़नेवाले मेवाड़ के खेतों और गाँवों को मैंने पूरी तौर से बरबाद और वीरान पाया। मेवाड़ी रियाया अपने-आप ही हमारे हमले की खबर पाकर अपनी खड़ी फसलें बरबाद कर, गाँवों में आग लगाकर और कुँओं में जहर डालकर, पहाड़ों में छिप गई। मुझे पूरे मेवाड़ में इंसान के एक बच्चे के भी दर्शन नहीं हुए, न हमारे घोड़ों को कहीं हरी घास नसीब हुई, और न किसी कुएँ में पीने लायक पानी मिला। बहुत मुश्किल से रास्ते में झीलें खोज-खोजकर हम अपनी प्यास बुझा पाते थे !

रहीम : वाकई, बड़ी मुश्किल का सामना करना पड़ा, आपको।

फरीदखाँ : इसका नतीजा यह हुआ कि कुछ ही दूर जाने के बाद हमारी फौज बैचैन हो गईं, भूख और प्यास से घोड़े खास तौर से बहुत कमजोर पड़ गये। उनको अपने सिपाहियों की साथवाली थोड़ी-सी रसद में से कुछ देना पड़ता था, पर उससे होता क्या ? मजबूर होकर मुझे फौज को विना कहीं रोके ही दिन-रात आगे बढ़ने का हुक्म देना पड़ा। मेरा इरादा कुम्भलगढ़ और उदयपुर को चारों ओर से घेर लेने का था। लेकिन, ज्यों-ज्यों हम इस पहाड़ी इलाके के अन्दर घुसते थे, हमारे ऊपर पहाड़ियों से जहरीले तीरों और पत्थरों की बरसात होने लगती थी। हम अपने दुश्मन को देख भी नहीं पाते थे, लेकिन यह मार फौज को बहुत नुकसान पहुँचा रही थी। हमारे घोड़े और सिपाही तीरों और पत्थरों की चोट खाकर मजबूर की तरह तड़प-तड़पकर अपना दम तोड़ देते थे। फिर भी हम आगे बढ़ते जा रहे थे।

अकबर : महाराणा ने लड़ाई का यह बिलकुल नया ढंग निकाला है।

फरीदखाँ : जहाँपनाह, महाराणा ने मेवाड़ के हर कौम के हरएक मर्द, औरत और बच्चे को सिपाही बना दिया है, खास तौर से मेवाड़ की

नीची समझी जानेवाली जंगली कौमें तो उनके लिए दीवानी हो रही हैं। मैं भयंकर पहाड़ी रास्ते को तै कर जैसे ही चारों ओर से पहाड़ों से घिरी एक हरी-भरी घाटी में कुछ देर फौज की थकावट दूर करने के लिए ठहरा और उदयपुर और कुम्भलगढ़ को घेरने के लिए अपनी फौज की तरतीव बनाने लगा, वैसे ही 'हर-हर महादेव' का आसमान को कँपा देनेवाला नारा चारों ओर की पहाड़ियों पर से सुनाई पड़ने लगा और देखते-देखते हमलोग चारो ओर से भीलों और राजपूतों की बेशुमार फौज से घिर गये। हमारी फौज का काफी हिस्सा रास्ते में वरवाद हो चुका था, कुछ थककर पीछे भी छूट गया था, और उस वक्त हम लोग पूरी तौर से तैयार भी नहीं थे। फिर भी हमलोग बड़ी बहादुरी से लड़े, लेकिन हमारी कुछ न चली, आधे दिन की लड़ाई में ही हमारी सारी फौज का सफाया हो गया और मैं भी सरदार के हाथों घायल और बन्दी होकर महाराणा के सामने पेश किया गया।

अकबर : महाराणा उस वक्त कहाँ थे ?

फरीदखाँ : जहाँपनाह, महाराणा उस वक्त अपनी राजधानी छोड़कर दस मील उत्तर की ओर एक पहाड़ी पर थे, वहीं उनका दरबार लगा था। वह एक ऊँचे पत्थर के टुकड़े पर एक दरख्त के तने का सहारा लिए हुए बैठे थे, उनके पीछे खूँख्वार भील सैनिक नंगी तलवारें और बर्छियाँ लिये खड़े थे। दाहिने और बायें बहुत-से राजपूत सरदार पत्थरों पर ही नंगी तलवार लिये बैठे थे। महाराणा के दरवार में आरायश और आराम का कोई सामान नहीं था, मैं वह समाँ देखकर दंग रह गया। मैंने देखा, महाराणा को जव प्यास लगी, तो उन्होंने मिट्टी के बरतन से ही पानी पिया।

अकबर : फिर...?

फरीदखाँ : हुजूर, मुझे महाराणा के सामने पेश करके भील-सरदार ने कहा— 'अन्नदाता ! यही क्षुद्र यवन आपके पवित्र शरीर के रक्त से अपनी तलवार को नहलाने की प्रतिज्ञा करके यहाँ आया था। अब मुझे इसके रक्त से अपनी तलवार को नहलाने की आज्ञा दी जाय।' महाराणा उस समय किसी गहरी चिन्ता में डूबे थे, यह सुनते ही उन्होंने कुछ देर बड़ी तीखी, लेकिन बहुत शान्त निगाह से मेरी ओर देखा, फिर कुछ मुस्कराये। जहाँपनाह ! महाराणा की वह मुस्कान और वह निगाह मैं कभी भूल नहीं सकता, मेरे भीतर सैकड़ों विजलियों की चमचमाहट और गड़गड़ाहट जैसे एक साथ भर गई। खता मुआफ हो, मैं महाराणा को देखते-ही-देखते दिल से उनका बन्दा हो गया। खुदाबन्द, महाराणा में जैसा रोब है, वैसा ताब सैकड़ों आफताब भी नहीं रखते। मैंने शेरों का शिकार किया है और जहाँपनाह के साथ बहुत-सी लड़ाइयाँ भी लड़ी हैं, प्रताप-जैसा शुजाअत और सखावत का अवतार मैंने दूसरा नहीं देखा है।

अकबर : ओह...! फिर तुम यहाँतक बचकर कैसे आये ?

फरीदखाँ : उन्होंने मुस्कराते हुए भील सरदार से कहा, 'सेनापति ! अपना क्रोध शान्त करो। इन वेतन-भोगी सैनिकों के रक्त में स्नान करके तुम्हारी तलवार क्या पायगी ? फिर, उन्होंने मेरी ओर देखकर कहा, 'मुगल सिपहसालार ! मेरी लड़ाई तुम जैसे लोगों से नहीं। मेरी दुश्मनी या तो अकबर से है या देशद्रोही कुल-कलंक मानसिंह से। मेरे दण्ड-विधान के भागी ये ही दोनों हैं। मैं तुमको मुक्त करता हूँ, तुम लौटकर अपने बादशाह से कह दो कि इस बार वह स्वयं मानसिंह को साथ लेकर यहाँ आवें। मेवाड़ की प्रजा का वच्चा-बच्चा और इस पवित्र भूमि का चप्पा-चप्पा उन दोनों के स्वागत के लिए सन्नद्ध हैं। कह देना, 'चित्तौड़

की चिताएँ अभी बुझी नहीं हैं और शताब्दियों की विस्मृति उन्हें बुझा नहीं सकेगी।'

अकबर : लेकिन तुम्हारी पगड़ी और तलवार क्या हुई ?

फरीदखाँ : हुजूर, महाराणा का हुक्म पाकर भील-सरदार ने मेरे बन्धन तो खोल दिये, पर मुझे इशारा किया कि मैं अपनी पगड़ी और तलवार अपने जीवनदाता को भेंट कर दूँ। सच कहता हूँ, जहाँपनाह ! मुझपर प्रताप का रोब इस प्रकार गालिब हो गया कि मैंने उनकी कशिश से हक्का-बक्का-सा होकर अपनी पगड़ी और तलवार उनके कदमों में रख दी।......बेशक, मैं सजा का हकदार हूँ, और वही पाने के लिए यहाँ आया हूँ। वैसे महाराणा के पास से आने की मेरी तबियत नहीं होती थी।

अकबर : मैंने भी तुम्हें माफ किया फरीदखाँ, जाओ। (**मानसिंह की ओर घूमकर**) महाराजा साहब, अब आपकी क्या राय है ?

मानसिंह : (**बड़े ताव से**) जहाँपनाह, इस बार मुझे अपनी विशाल सेना लेकर महाराणा पर आक्रमण करने की आज्ञा दी जाय। मैं उदयपुर और कुम्भलगढ़ को धूल में मिलाकर ही लौटूँगा।

अबुलफजल : जहाँपनाह, महाराणा मानसिंह जैसे मुगल-सल्तनत के मजबूत पाये को इस नाजुक वक्त में खतरे में डालना ठीक नहीं, हल्दीघाटी की लड़ाई में ही महाराजा साहब की जान मुश्किल से बच पाई थी। महाराणा इन्हीं की खोज में हमारी बेशुमार फौज में अकेले घुस गये थे। अब तो वह पहले से बहुत अधिक शक्तिशाली हैं।

रहीम : शेख साहब ठीक कहते हैं, जहाँपनाह ! मैंने भी सुना है, महाराणा अर्धरात्रि में सोते-सोते महाराज मानसिंह का नाम लेकर, सिंह की तरह दहाड़ मारकर, तलवार लेकर उठ बैठते हैं। बड़ी-बड़ी चट्टानों और विशाल तरु-स्कन्धों को वह उसी आवेश में मानसिंह समझकर तलवार के एक ही वार में टुकड़े-टुकड़े कर

डालते हैं। महाराजा साहब का वहाँ भेजा जाना मैं ठीक नहीं समझता।

अकबर : (रहीम से) तो फिर इस बार मेवाड़ को जीतने की जिम्मेदारी आपकी है, खानखाना ! आपके वालिद मरहूम इस मुगल-सल्तनत की नींव डालनेवालों में हैं। आप कलम और तलवार दोनों के धनी हैं, सल्तनत को आप पर अभिमान है। अगर आप प्रताप को किसी तरह आगरा ला सकें......।

रहीम : बहुत दिनों से मेरे दिल में मेवाड़ और महाराणा को युद्धक्षेत्र में देखने की अभिलाषा थी, वह आज पूरी हुई। मैं यह आज्ञा पालन करने में कोई कोर-कसर न रखूँगा। पर, एक बार जान लेना चाहता हूँ, जहाँपनाह ! यदि प्रताप मित्र या बन्दी बनाकर, यहाँ लाये जा सके,तो उनके साथ कैसा बरताव किया जायगा ?

अकबर : (कुछ सोचकर) आप जैसा चाहेंगे, वैसा ही !

मानसिंह : लेकिन जहाँपनाह, सुना है खानखाना साहब तो प्रताप की प्रशंसा में कविताएँ भी लिखते हैं।

खानखाना : महाराजा साहब ! मैं दिल से प्रताप का भक्त हूँ।

अकबर : (मानसिंह से) मुझे यह मालूम है, महाराजा साहब ! फिर भी मुझे खानखाना पर पूरा भरोसा है। ......मैं इस वार खुद प्रताप को देखने चलना चाहता था, लेकिन मुल्क की सियासी हालत ठीक नहीं। पंजाब के आसार अच्छे नहीं, सलीम का भी दिल साफ नहीं मालूम होता है। दक्खिन की भी हालत बहुत ठीक नहीं। ऐसे नाजुक मौके पर मेवाड़ में मेरा उलझ जाना शायद अक्लमन्दी की बात नहीं। पता नहीं, वहाँ से कब छुटकारा मिले और यह भी ठीक नहीं कि उसका क्या नतीजा हो।

अबुलफजल : सही फरमाते हैं, जहाँपनाह !

(दृश्य-परिवर्त्तन)

दूसरा दृश्य

स्थान : उदयपुर से कुछ दूर गहन वन के अन्तराल में एक पहाड़ी ।

[महाराणा प्रताप अपने दस सहस्र चुने हुए भील तथा राजपूत सैनिकों के साथ वहाँ विराजमान हैं। महाराणा एक शिला पर आसीन हैं और इस अवसर पर शिरस्त्राण, कवच आदि से सुसज्जित पूर्ण सैनिक-भूषा में दिखाई देते हैं। उनके बाईं ओर कटिबन्ध में कृपाण झूल रहा है और दाहिनी ओर उनकी बर्छी शिला के सहारे टिकी है। उनके निकट ही एक शिला पर वयोवृद्ध मन्त्रिश्रेष्ठ भामाशाह बैठे हैं। कुछ अन्य प्रमुख सरदार और सेनापति दोनों ओर शिलाओं पर बैठे हैं। सब लोग मौन हैं, वातावरण बहुत गम्भीर है।]

महाराणा : (भामाशाह से) मन्त्रिश्रेष्ठ, इस बार का आक्रमण बड़ा भयंकर और अत्यन्त सुयोजित है। महाराजा पृथ्वीराज ने लिखा है कि रहीम खानखाना मुझे किसी-न-किसी प्रकार अकबर के समक्ष प्रस्तुत करने की प्रतिज्ञा करके आये हैं।

भामाशाह : ठीक है, अन्नदाता ! मैंने यह भी सुना है कि खानखाना अद्वितीय वीर और रणदक्ष सेनानायक हैं। उन्होंने हमारी इस वन्य राजधानी को बड़े कौशल से चारों ओर से घेरने का उपक्रम किया है। जयपुर, बूँदी आदि निकटवर्त्ती राज्यों से उन्होंने अपनी सेना के लिए निरन्तर रसद प्राप्त करने की भी समुचित व्यवस्था कर ली है। फिर भी, महाराणा की युद्धनीति के सामने अभी तक तो उनका प्रयत्न विफल ही होता दिखाई पड़ता है।

महाराणा : सब भगवान् एकलिंग का प्रसाद है, मन्त्रिवर ! अभी तक युद्ध के सभी मोर्चों से जो समाचार आ रहे हैं, उनसे तो यही प्रतीत होता है कि अन्ततः रहीम को भी विफलमनोरथ लौटना पड़ेगा।

भामाशाह : युद्ध के समाचारों से ज्ञात होता है कि पूर्व, दक्षिण और पश्चिम की ओर से बढ़नेवाली रहीम की सेनाएँ बहुत कुछ नष्ट हो चुकी हैं। केवल उत्तर की ओर से स्वयं खानखाना इस ओर द्रुत गति से

निर्बाध बढ़ते आ रहे हैं, अवश्य हमारे भील सैनिकों ने पहाड़ियों पर से उनकी सेना को काफी क्षति पहुँचाई है।

महाराणा : मन्त्रिवर, जान-बूझकर अबतक उनके मार्ग में कोई रुकावट नहीं डाली गई है। मैंने युवराज अमर और चूड़ावत सरदार की अध्यक्षता में अपनी चुनी हुई सेना खानखाना के विरोध के लिये भेजी है। मेरा आदेश है कि उन्हें पर्वतमालाओं में चारों ओर से घेर लिया जाय।

भामाशाह : अन्नदाता की व्यवस्था सब प्रकार पूर्ण है, पर बीकानेर-नरेश ने भी तो लिखा है कि खानखाना बड़े भारी कवि तथा राम और कृष्ण के परम भक्त हैं। आप महान् राम के वंशधर हैं, इसलिए आपके प्रति उनकी अपार श्रद्धा है।

महाराणा : निःसन्देह, वह महाकवि और महान् भक्त हैं। इसीलिए मैंने अमर को सावधान कर दिया है कि खानखाना के शरीर को किसी प्रकार की क्षति न पहुँचे। भगवान् के भक्त चाहे किसी जाति या धर्म के हों, सबके लिए सब प्रकार वन्दनीय हैं।

भामाशाह : अन्नदाता ! देर हुई, युवराज के युद्ध का कोई समाचार नहीं मिला।

महाराणा : चिन्ता का कोई कारण नहीं, महामन्त्री ! यदि अमर ने मेरे आदेशों का सम्यक् परिपालन किया होगा, तो युद्ध की निर्णायक अवस्था अबतक कभी की पार हो गई होगी। युद्ध का कोई-न-कोई समाचार आने ही वाला है।

(नेपथ्य में कोलाहल। 'हर-हर महादेव', 'भगवान् एकलिंग की जय', 'महाराणा की जय', 'धर्म की जय', 'देश की जय', आदि सिंहनाद सुनाई पड़ते हैं। सब राजपूत सरदार चौकन्ने होकर खड़े हो जाते हैं, सैनिकगण भी तलवारें म्यान से निकालकर महाराणा के आदेश की प्रतीक्षा करते हैं।)

महाराणा : (खड़े होकर) सरदारो और सैनिक वन्धुओ, व्यग्र होने का कोई कारण नहीं। मुझे विश्वास है, यह अमर की विजयी सेना का सिंहनाद है। आप लोग शीघ्र ही कोई शुभ समाचार सुनेंगे।

(सब शान्त हो जाते हैं। महाराणा फिर यथास्थान बैठ जाते हैं, सब सरदार भी। इसी समय वन के अन्तराल में वहुसंख्य अश्वों तथा सैनिकों के पदों की ध्वनि सुनाई पड़ती है। कुछ ही समय पश्चात् एक ओर से चूड़ावत सरदार के साथ सैनिक-वेश में युवराज अमरसिंह प्रवेश करते हैं और महाराणा के चरण छूते हैं।)

महाराणा : (दोनों को हृदय से लगाकर) युद्ध का क्या समाचार है ?

अमरसिंह : पिताजी, युद्ध में पूर्ण विजय हुई। आपके योजनानुसार खानखाना की सेना को कौशल से दो टुकड़ों में विभक्त कर दिया गया। जो भाग पीछे रह गया था, वह बिलकुल नष्ट कर दिया गया। उसमें खानखाना की वेगम और पुत्री थीं, उन्हें उनकी परिचारिकाओं के सहित बन्दी कर लिया गया है। सेना का अग्रभाग, जिसमें स्वयं खानखाना थे, चारों ओर से हमारे सैनिकों से घिरा है। अन्नदाता के आज्ञानुसार खानखाना की सुरक्षा के विचार से उसे कोई विशेष क्षति नहीं पहुँचाई गई है। किन्तु, इंगित-मात्र से खानखाना की सेना का सफाया किया जा सकता है और सहज ही उनके वध या बन्धन की व्यवस्था हो सकती है।

महाराणा : इसकी आवश्यकता नहीं, अमर ! पर, तुमने खानखाना की पत्नी और पुत्री को बन्दी बनाया है ! उनके साथ किसी प्रकार का दुर्व्यवहार तो नहीं हुआ ? वे लोग हैं कहाँ ?

अमरसिंह : नहीं पिताजी ! अमर आपका ही पुत्र तो है। क्षत्रिय है, स्त्री-जाति का सम्मान करना जानता है। राजकीय सम्मान के साथ उनको शिविकाओं में यहाँ लाया गया है, वे शीघ्र आपके समक्ष उपस्थित की जायेंगी। देखिए पिताजी, वह शिविका आ रही है।

महाराणा : बेगम को समुचित सम्मान प्राप्त होना चाहिए, किसी प्रकार की त्रुटि न हो, अमर !

(युवराज अमरसिंह अभिवादन करके चले जाते हैं और कुछ समय पश्चात् फिर लौट आते हैं। उनके पीछे खानखाना की बेगम और पुत्री हैं, दोनों के शरीर स्वर्णखचित एवं रत्नजटित बुर्कों से ढके हैं। दोनों अत्यन्त भयभीत प्रतीत होती हैं; क्योंकि बुर्कों के भीतर से सिसकने की आवाज सुनाई पड़ती है। महाराणा बेगम को देखकर खड़े हो जाते हैं।)

महाराणा : बेगम साहब ! उदयपुर का यह महाराणा आपको प्रणाम करता है। (बैठकर) मुझे दु:ख है कि आपको यह कष्ट सहना पड़ा, पर आर्यों के इस देश में प्रत्येक स्त्री को, वह किसी भी जाति या धर्म की हो, अपने को निरापद समझना चाहिए। प्रताप को आप अपना सगा भाई ही समझें। आप लोग जहाँ जाना चाहेंगी, वहीं सम्मान-पूर्वक आपको भेज दिया जायगा।

खानखाना की पुत्री : (सिसकते हुए) महाराणा साहब ! हमको मेहरबानी करके यह बतला दिया जाय कि हमारे अब्बाजान कहाँ हैं और खैरियत से तो हैं ? अगर मुमकिन हो, तो हमको उनके पास भिजवा दिया जाय।

महाराणा : बेटी, तुम्हारे अब्बाजान अपनी बची हुई फौज के साथ भयंकर पहाड़ियों के बीच हमारी सेना से चारों ओर से घिरे हुए हैं। यद्यपि वह घोर संकट में हैं, फिर भी पूर्णरूप से सुरक्षित हैं; क्योंकि मैंने अपने सेनापतियों को आज्ञा दे रखी है कि खानखाना किसी प्रकार आहत न होने पायें। मैं जानता हूँ बेटी, तुम्हारे पिता महान् कवि और भगवद्भक्त हैं, इसीलिए वह हम राजपूतों के लिए अवध्य और परमादरणीय हैं ! मैं आप लोगों को उनके पास यथा-समय पहुँचा देने की व्यवस्था कर रहा हूँ।

खानखाना की पुत्री : महाराणा साहब ! आप सचमुच इन्सान नहीं, फरिश्ते हैं।

बेगम : महाराणाजी ! हमारे खानखाना अकसर कहा करते हैं कि आप दुनिया की लासानी हस्ती हैं। सचमुच आप... ।

महाराणा : प्रताप अपने देश और धर्म का क्षुद्र सेवक-मात्र है, बहन ! प्रशंसनीय वस्तुतः खानखाना हैं, जिन्होंने देश और धर्म के सच्चे स्वरूप को पहचाना है। इस्लाम को उन जैसे लोगो से बहुत कुछ सीखना है। आप मेरी ओर से खानखाना साहब से यह प्रार्थना अवश्य करें कि वह अपने सहधर्मियों को नारी-जाति का सम्मान करना सिखायें। आज इस्लाम के अनुयायियों के रहते हुए इस देश की नारियाँ अपनी मर्यादा सुरक्षित नहीं समझतीं, और यह भी ध्रुव सत्य है कि नारी-जाति के सामूहिक और सार्वजनिक घर्षण को विजय एवं पौरुष समझने-समझानेवाला धर्म दुनिया में बहुत दिनों तक जिन्दा नहीं रह सकता ।

बेगम : ठीक कहते हैं आप, महाराणा साहब !

महाराणा : अमर, महारानी, अपनी माता से कहो कि बेगम साहब का राजकीय सम्मान के साथ आतिथ्य-सत्कार करें... (**भामाशाह से**) बेगम साहब को खानखाना के पास भिजवाने के लिए एक विशिष्ट सैनिक-गुल्म तैयार रखिए। एक दूत भेजकर खानखाना से पुछवाइए कि अब वह युद्ध चाहते हैं या शान्ति ? मैं खानखाना को बन्दी बनाकर अपमानित नहीं करना चाहता, वैसे उनकी जैसी इच्छा हो, वही किया जायगा ।

भामाशाह : जो आज्ञा, अन्नदाता !

(बेगम और बालिका के साथ भामाशाह और अमरसिंह जाते हैं।)

(दृश्य-परिवर्त्तन)

तीसरा दृश्य

स्थान : आगरा के किले में शाही इबादतगाह से संलग्न अकबर का मन्त्रणा-गृह।

[अकबर एक मसनद के सहारे कुछ चिन्तामग्न बैठे हैं। उनके दाहिने पार्श्व में फैजी, मुल्ला दो-प्याजा और महाराज पृथ्वीराज बैठे हैं, और बायें पार्श्व में मानसिंह और बीरबल हैं। एक ओर बड़ी शान्त एवं गम्भीर मुद्रा में अब्दुर्रहीम खानखाना बैठे हैं, उनके मुखमण्डल पर सात्त्विक आह्लाद की अनिर्वचनीय आभा खेल रही है।]

मानसिंह : जहाँपनाह, मैं इस लड़ाई का नतीजा पहले से जानता था। (वह भेद-भरी दृष्टि खानखाना पर डालता है, खानखाना अपनी शान्त, स्निग्ध, तेजस्वी दृष्टि से उसकी ओर देखते हैं, जिससे हतप्रभ होकर मानसिंह अपनी दृष्टि नीची कर लेता है।)

अकबर : नहीं, महाराजा साहब !...आपका खयाल गलत है।...पहले मेरा भी कुछ ऐसा ही खयाल बनने लगा था। लेकिन लड़ाई के पूरे वाकयात सुन और समझ लेने के बाद शक करने का कोई मौका नहीं रह गया है। खानखाना ने वहाँ जाकर वही किया, जो मैं करता या कोई भी बड़ा सिपहसालार करता। बेशक उनकी हार प्रताप की बहादुरी और चतुराई के मुकाबले हुई है।

फैजी : मुझे भी यकीन है, जहाँपनाह !

अकबर : इतना ही नहीं, शेख साहब।...मैंने जो कुछ सुना है, अगर वह सच है, तो प्रताप ने मुझे भी जीत लिया।...सचमुच उसने मुझे भी परास्त कर दिया है...(**रहीम से**) क्यों खानखाना, क्या यह ठीक है कि महाराणा के युवराज अमरसिंह ने आपकी बेगम साहिबा और शाहजादी दोनों को कैद कर लिया था ?

रहीम : यह बिलकुल सही है।

अकबर : मैंने सुना है कि महाराणा ने अपनी बहन की तरह उनकी आव-भगत की, क्या यह भी सही है ?

रहीम : बिलकुल सही, जहाँपनाह ! बेगम का कहना है कि भाई-बहन और माँ-बेटे की पाक मुहब्बत का सच्चा अनुभव मुझे मेवाड़ जाकर ही हुआ। महाराणा ने बहन कहकर उनका सम्मान किया और युवराज अमर ने माता कहकर उनके चरण छुए, महारानी ने अपनी सगी बहन से भी ज्यादा उनको माना और मेवाड़ के किसी पुरुष ने कहीं उनकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखा। बेगम ने मुझसे सवाल किया कि कोई खूबसूरत और जवान हिन्दू-स्त्री अगर इसी तरह हम मुसलमानों के बीच पड़ जाय, तो उसकी क्या हालत होगी ? क्या इस आगरे में बहन कहकर उसकी इज्जत बचाने के लिए जान देनेवाला एक भी मुसलमान निकलेगा ? क्या हजारों नापाक आँखों में उसकी अस्मत जलाकर खाक करने के लिए दोजखी शोले नहीं भड़क उठेंगे ?...मैं बेगम को कोई जवाब नहीं दे सका, जहाँपनाह !

अकबर : ठीक कहते हो, खानखाना ! हम लोगों के पास बेगम के इस सवाल का कोई जवाब नहीं। वाकई जो कुछ तुम कहते हो, वह मामूली तौर से हम लोगों के कयास में भी नहीं आ सकता।

रहीम : जहाँपनाह, बेगम जो कुछ कहती हैं, वह इस देश के रहनेवालों के लिए एक बहुत मामूली बात है। मैंने सुना है, हिन्दुओं को अपनी दृष्टि काम-गन्ध-शून्य और निर्विकार रखने के लिए निरन्तर सावधान रहने की आरम्भ से ही शिक्षा दी जाती है, उसका अभ्यास कराया जाता है। इसीलिए, जगदम्बा का स्वरूप समझकर वे लोग कुमारियों की उपासना करते हैं, सभी औरतों में उसी माता का जलवा देखते हैं। (**पृथ्वीराज से**) क्या यह सही है, महाराजा साहब ?

पृथ्वीराज : जहाँपनाह, खानखाना साहब ने इस देश की आत्मा के दर्शन पा लिये हैं। कम ही लोगों ने धर्म के तत्त्व को इस प्रकार समझा होगा।

अकबर : (कुछ सोचते हुए) क्या सचमुच हिन्दोस्तान देवताओं का देश है? मुझको उपनिषद् और पुराण सुनानेवाला पण्डित एक दिन कह रहा था कि देवता इस पृथ्वी पर जन्म पाने को लालायित रहते हैं, तो क्या यह भी सच है, खानखाना !

रहीम : जहाँपनाह, मैं तो समझता हूँ कि मनुष्यता ने इसी धरती पर जन्म पाया है, ऊँचे चरित्र और महान् आदर्शों की यह लीलाभूमि है। आपने तो इस देश के इस समय के अनेक सन्त स्वयं देखे हैं......। सन्त जो कुछ कहते आ रहे हैं, महाराणा प्रताप जैसे लोग यहाँ उसको सदैव ही अमल में लाते आये हैं।

अकबर : याद हैं मुझे वे सन्त खानखाना, आज के इस वाकये ने मुझे अपनी पिछली जिन्दगी को मुड़कर देखने को मजबूर कर दिया है। मैं अबतक अपने को दीन का पैगम्बर मानता रहा हूँ। क्या यह मेरा अहंकार-ही-अहंकार है या कोरा राजनीतिक कौशल ? कुछ समझ में नहीं आता, रहीम ! मेरे अन्दर गहरी तारीकी है। **(आँख बन्द कर लेता है।)**

रहीम : जहाँपनाह ! मेरी समझ में तो सच्चा दीन-इलाही भारत की इस जमीन पर ही रोशन हुआ।......इस देश के ऋषियों, सन्तों, अवतारों और कर्मयोगियों को समझे बिना शायद सच्चे दीन-इलाही का साक्षात्कार असम्भव है। मेरा तो विश्वास है कि यह देश मानवता का महातीर्थ है, जहाँ विभिन्न धर्मों, जातियों, देशों और सम्प्रदायों के लोग अपने सब तरह के भेद-भाव भुलाकर ईश्वर के बन्दे के रूप में भाई-भाई की तरह कभी-न-कभी प्रेम से गले अवश्य मिलेंगे। हिन्दू-धर्म ने इसके लिये आधार तैयार कर लिया है।

अकबर : खानखाना, तुम कवि हो। सच्चे दीन-इलाही का इलहाम तुमको हुआ है, इसमें सन्देह नहीं है।

बीरबल : आपके हमकौम आपसे बहुत कुछ सीख सकते हैं, खानखाना साहब !

अकबर : आप ठीक कहते हैं। अगर मुसलमानों में रहीम की जहनियत नहीं पैदा होती, तो वे सदैव इस देश के शत्रु बने रहेंगे और कभी इसे अपनी मातृभूमि नहीं समझेंगे !

मुल्ला दो-प्याजा : वह सब तो हुआ करेगा। इस वक्त इतनी बड़ी शिकस्त खाने के बाद आप मेवाड़ के महाराणा के बारे में कौन-सा कदम उठाने जा रहे हैं, यहाँ यह मसला पेश था।

अकबर : मैंने निश्चय कर लिया है मुल्ला साहब ! कि मैं अपने जीवन में मेवाड़ पर कोई हमला नहीं करूँगा। मैं अब इसे बिलकुल बेकार समझने लगा हूँ।

रहीम : ठीक फरमाते हैं, जहाँपनाह ! महाराणा को कभी पराजित नहीं किया जा सकता है। महाराणा का कहना है कि यदि महाराणा साँगा और उनके बीच में उनके पिता उदयसिंह बाधक न हुए होते, तो आज हिन्दोस्तान का इतिहास कुछ दूसरा ही होता। कुछ हो, इतना तो मानना ही पड़ेगा जिस हिन्दू-जाति ने प्रताप-जैसे नर-रत्नों को जन्म दिया है और जिसने सदा ऊँचे-से-ऊँचे आदर्शों का कवच पहन रखा है, वह कभी पराजित या नष्ट नहीं की जा सकती है। अमरता हिन्दुत्व की जन्मजात विशेषता है।

अकबर : अच्छा खानखाना ! मैंने सुन रखा है कि आपने महाराणा पर कुछ सुन्दर कविताएँ रची हैं ?

रहीम : अभी तक रची नहीं, अब ऐसा करने का संकल्प अवश्य है। चित्तौर से लौटा हूँ, तब से महाराणा का व्यक्तित्व महाकाव्य बनकर मन को सतत रससिक्त रखता है।

(पट-परिवर्त्तन)

चौथा दृश्य

स्थान : आगरा

समय : प्रभात

[आगरा में खानखाना का प्रासाद, अन्तःपुर में उनका उपासना-कक्ष। द्वार के सामनेवाली भित्ति पर पूर्वाभिमुख भगवान् राम और कृष्ण के दो मनुष्यों के आकार के चित्र लगे हैं, जिनको आगरा के प्रमुख शाही चित्रकार ने खानखाना के निर्देशन में तैयार किया है। बाल-सूर्य की अरुण किरणें इन चित्रों पर प्रतिफलित होकर उन्हें अलौकिक आभा से मण्डित कर रही हैं। चित्रों के दाहिनी ओर एक कौशेय आसन पर खानखाना भावाविष्ट-से बैठे हैं। सामने लेखनी, मसिपात्र और कुछ पत्रक रक्खे हैं। खानखाना कभी-कभी कुछ गुनगुनाने लगते हैं, कभी लेखनी उठाकर सामने रखे हुए कागज पर कुछ लिखते और फिर ध्यानस्थ हो जाते हैं। इसी समय बेगम कक्ष में प्रवेश करती हैं और चित्रों के समक्ष श्रद्धाविह्वल प्रणति-निवेदन कर खानखाना के पीछे खड़ी हो जाती हैं। फिर, रहीम के सामने रखे हुए पत्रक पर लिखी कविता को धीरे-धीरे पढ़ने लगती हैं।]

बेगम : (एक पत्र उठाकर धीरे-धीरे पढ़ती हैं।)

धूरि धरत निज शीश पै, कहु रहीम केहि काज।
जेहि रज मुनि-पतनी तरी, तेहि खोजत गजराज॥
अच्युत-चरण-तरंगिणी-शशि-शेखर मौलि मालती-माले।
मम तनु वितरण-समये, हरता देया न मे हरिता॥

[बेगम के पाठ से रहीम का ध्यान भंग होता है, वे चित्रों के दूसरे पार्श्व में सामने पड़े हुए आसन पर उन्हें बैठने का संकेत करते हैं।]

बेगम : आज प्रातःकाल से ही काव्य-रचना आरम्भ हो गई ? मैं तो देखती हूँ, जबसे ये चित्र बनकर आये हैं, आप प्रायः भावाविष्ट-से रहते हैं।

रहीम : ठीक कहती हो, प्रिये ! जिनके ये चित्र हैं, उनके रूप में मुझे जीवन का चरम सत्य मिल गया है। मुझे विश्वास है, रहस्यमयी परम सत्ता के ऐसे सुन्दर, ऐसे कल्याणमय रूप का साक्षात्कार संसार के किसी देश अथवा धर्म में नहीं किया जा सका है ! **(चित्रों को निर्निमेष देखते हैं ।)**

बेगम : स्वामी, इतना तो मैं भी कह सकती हूँ कि आचरण की ऐसी पवित्रता संसार की किसी अन्य जाति या देश में नहीं मिलती। महाराणा की निर्मल निर्विकार दृष्टि मैं नहीं भूल पाती। उन्होंने मुझे अपनी बहन बनाकर मेरा जीवन सफल कर दिया है। **(कण्ठ भर आता है ।)**

रहीम : तुम्हारा कथन सत्य है, देवी ! **(भगवान् राम के चित्र की ओर देखकर)** महाराणा इन्हीं मर्यादापुरुषोत्तम राम के वंशधर हैं, **(भावस्थ होकर नेत्र मूँदकर)** मेरे आराध्य प्रभु राम के वंशधर ! (कुछ देर ध्यानस्थ रहकर स्फुट मधुर स्वर से पाठ करते हैं। आँखों में आँसू हैं ।)

> **अहल्या पाषाणः प्रकृतिपशुरासीत्कपिचमू—**
> **गुंहोऽभूच्चाण्डालस्त्रितयमपि नीतं निज पदम् ।**
> **अहः चित्तेनाश्मा पशुरपि तवार्चादिकरणे**
> **क्रियाभिश्चाण्डालो रघुवर ! न मामुद्धरसि किम् ॥**

बेगम : **(रहीम को प्रकृतिस्थ देखकर)** स्वामी, आप एक दिन भगवान् राम की कथा लिखनेवाले एक बड़े भारी सन्त की चर्चा मुझसे कर रहे थे ।

रहीम : हाँ, मैं भक्तशिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास के विषय में कह रहा था। उन्होंने 'रामचरितमानस' नाम का अद्वितीय महाकाव्य लिखा है, जो इस युग में भारतीय मनीषा का चरम चमत्कार है ।

चौथा दृश्य

स्थान : आगरा

समय : प्रभात

[आगरा में खानखाना का प्रासाद, अन्तःपुर में उनका उपासना-कक्ष। द्वार के सामनेवाली भित्ति पर पूर्वाभिमुख भगवान् राम और कृष्ण के दो मनुष्यों के आकार के चित्र लगे हैं, जिनको आगरा के प्रमुख शाही चित्रकार ने खानखाना के निर्देशन में तैयार किया है। बाल-सूर्य की अरुण किरणें इन चित्रों पर प्रतिफलित होकर उन्हें अलौकिक आभा से मण्डित कर रही हैं। चित्रों के दाहिनी ओर एक कौशेय आसन पर खानखाना भावाविष्ट-से बैठे हैं। सामने लेखनी, मसिपात्र और कुछ पत्रक रक्खे हैं। खानखाना कभी-कभी कुछ गुनगुनाने लगते हैं, कभी लेखनी उठाकर सामने रखे हुए कागज पर कुछ लिखते और फिर ध्यानस्थ हो जाते हैं। इसी समय बेगम कक्ष में प्रवेश करती हैं और चित्रों के समक्ष श्रद्धाविह्वल प्रणति-निवेदन कर खानखाना के पीछे खड़ी हो जाती हैं। फिर, रहीम के सामने रखे हुए पत्रक पर लिखी कविता को धीरे-धीरे पढ़ने लगती हैं।]

बेगम : (एक पत्र उठाकर धीरे-धीरे पढ़ती हैं।)

धूरि धरत निज शीश पै, कहु रहीम केहि काज।
जेहि रज मुनि-पतनी तरी, तेहि खोजत गजराज।।
अच्युत-चरण-तरंगिणी-शशि-शेखर मौलि मालती-माले।
मम तनु वितरण-समये, हरता देया न मे हरिता।।

[बेगम के पाठ से रहीम का ध्यान भंग होता है, वे चित्रों के दूसरे पार्श्व में सामने पड़े हुए आसन पर उन्हें बैठने का संकेत करते हैं।]

बेगम : आज प्रातःकाल से ही काव्य-रचना आरम्भ हो गई? मैं तो देखती हूँ, जबसे ये चित्र बनकर आये हैं, आप प्रायः भावाविष्ट-से रहते हैं।

रहीम : ठीक कहती हो, प्रिये ! जिनके ये चित्र हैं, उनके रूप में मुझे जीवन का चरम सत्य मिल गया है। मुझे विश्वास है, रहस्यमयी परम सत्ता के ऐसे सुन्दर, ऐसे कल्याणमय रूप का साक्षात्कार संसार के किसी देश अथवा धर्म में नहीं किया जा सका है ! **(चित्रों को निर्निमेष देखते हैं ।)**

बेगम : स्वामी, इतना तो मैं भी कह सकती हूँ कि आचरण की ऐसी पवित्रता संसार की किसी अन्य जाति या देश में नहीं मिलती। महाराणा की निर्मल निर्विकार दृष्टि मैं नहीं भूल पाती। उन्होंने मुझे अपनी वहन बनाकर मेरा जीवन सफल कर दिया है। **(कण्ठ भर आता है ।)**

रहीम : तुम्हारा कथन सत्य है, देवी ! **(भगवान् राम के चित्र की ओर देखकर)** महाराणा इन्हीं मर्यादापुरुषोत्तम राम के वंशधर हैं, **(भावस्थ होकर नेत्र मूँदकर)** मेरे आराध्य प्रभु राम के वंशधर ! (कुछ देर ध्यानस्थ रहकर स्फुट मधुर स्वर से पाठ करते हैं। आँखों में आँसू हैं ।)

अहल्या पाषाणः प्रकृतिपशुरासीत्कपिचमू—
गुहोऽभूच्चाण्डालस्त्रितयमपि नीतं निज पदम् ।
अहः चित्तेनाश्मा पशुरपि तवार्चादिकरणे
क्रियाभिश्चाण्डालो रघुवर ! न मामुद्धरसि किम् ॥

बेगम : **(रहीम को प्रकृतिस्थ देखकर)** स्वामी, आप एक दिन भगवान् राम की कथा लिखनेवाले एक बड़े भारी सन्त की चर्चा मुझसे कर रहे थे।

रहीम : हाँ, मैं भक्तशिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास के विषय में कह रहा था। उन्होंने 'रामचरितमानस' नाम का अद्वितीय महाकाव्य लिखा है, जो इस युग में भारतीय मनीषा का चरम चमत्कार है।

बेगम : क्या कभी उनके दर्शन करने का सौभाग्य हमें भी मिल सकता है ?

रहीम : वे यहाँ आने से रहे; क्योंकि बादशाहों और राजधानियों से उन्हें कोई सरोकार नहीं ।

बेगम : तो......तो फिर......?

रहीम : हाँ, गोस्वामी तुलसीदासजी की कीर्त्ति हमारे शाहंशाह के कानों तक पहुँची है। वह भी गोस्वामीजी से मिलने के लिए इच्छुक प्रतीत होते हैं !

बेगम : जहाँपनाह उनसे किस प्रकार मिलेंगे ?

रहीम : कदाचित् छद्मवेश में, क्योंकि व्रज के महान् कृष्णभक्त सन्त और कवि सूरदासजी से मिलकर उनको अनुभव हो चुका है कि साधुओं को बादशाहों की परवाह नहीं होती ।

बेगम : स्वामी, मुझे सूर और मीराँ के पद बहुत प्यारे लगते हैं, इच्छा होती है, कोई इन पदों को गाता रहे, और मैं एकटक (**भगवान् कृष्ण के चित्र की ओर इंगित कर**) व्रज के कन्हैया की यह बाँकी झाँकी निहारती रहूँ ।

रहीम : तुम्हारा चित्त बड़ा पवित्र है, तभी इस प्रकार की कामना उसमें जगी । सचमुच ये कृष्ण सुन्दरता के सागर—माधुर्य के महार्णव—हैं। शक्ति और ज्ञान की परिसीमा भी तो ये ही हैं । देखो, इनके अधरों पर विराजमान नादब्रह्म की प्रतीक मुरली, जिसके स्वरों में गीता का ज्ञान लहराता है ।

बेगम : स्वामी ! मुझे हिन्दुओं की पूजा-पद्धति बहुत प्यारी लगती है, किसी से सीख लेने की इच्छा होती है ।

रहीम : वह हो जायगा, उसमें कोई कठिनाई न होगी । (**हँसकर**) क्या व्रज की गोपी बनने की अभिलाषा है ?

बेगम : वह तो शायद ज्यादा ऊँची बात है। मैं तो यशोदा बनना चाहती हूँ, स्वामी! **(भगवान् कृष्ण के चित्र की ओर देखकर साश्रु हो जाती हैं।)**

रहीम : धन्य हो तुम देवी! आओ, मेरे साथ भगवान् कृष्ण से प्रार्थना करो, कभी-न-कभी तुम्हारी इच्छा पूरी होगी।

(रहीम और बेगम अपने-अपने आसनों पर चित्रों के दोनों पार्श्वों में बद्धांजलि खड़े होकर प्रार्थना करते हैं। नेपथ्य में मधुर वाद्य-ध्वनि होती है।)

रत्नाकरोऽस्ति सदनं गृहिणी च पद्मा
किं देयमस्ति भवते जगदीश्वराय।
राधागृहीतमनसेऽमनसे च तुभ्यं
दत्तं मया निजमनस्तदिदं गृहाण॥
आनीता नटवन्मया तव पुरः श्रीकृष्ण! या भूमिका,
व्योमाकाशखखाम्बराब्धिवसवस्त्वत्प्रीतयेऽद्यावधि।
प्राप्तो यद्यसि तन्निरीक्ष्य भगवन् मत्प्रार्थितं देहि मे,
नो चेद् ब्रूहि कदापि मानय पुनर्मामीदृशीं भूमिकाम्॥

(प्रार्थना समाप्त कर दोनों चित्रों के समक्ष प्रणत होते हैं, कक्ष तीव्र प्रकाश से भर जाता है।)

(पटाक्षेप होता है।)

४. महाकवि भूषण

पात्र-परिचय

भूषण : राष्ट्रीयता एवं वीर रस के प्रख्यात कवि, छत्रपति शिवाजी के कवि-सहचर।

शिवाजी : गो-ब्राह्मण-प्रतिपालक, हिन्दू-धर्म-रक्षक छत्रपति महाराज शिवाजी।

तानाजी : महाराज शिवाजी के सेनाध्यक्ष, सिंहगढ़ के सुप्रसिद्ध विजेता।

चिन्तामणि : हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि, भूषण के भाई।

मतिराम : भूषण के भाई, रीतिकालीन कवि।

जटाशंकर : भूषण के भाई, हिन्दी के प्रसिद्ध कवि।

औरंगजेब : अन्तिम मुगल-सम्राट्।

फाजिल अलीशाह : औरंगजेब का दरबारी, सिपहसालार।

नीलकण्ठ, **कालिदास**, **सुखदेव** : रीतिकालीन प्रसिद्ध कवि।

पेशवा, समासद, प्रहरी, भृत्य आदि।

पहला दृश्य

स्थान : ग्राम तिकवाँपुर।

[रत्नाकर त्रिपाठी के विशाल भवन से संलग्न मनोरम उद्यान के बीच एक चत्वर। उसपर कई आसन्दियाँ रखी हैं। चिन्तामणि, भूषण, मतिराम और जटाशंकर बैठे हैं। चिन्तामणि के हाथ में एक ग्रन्थ है।]

चिन्तामणि : मेरे 'कविकुल-कल्पतरु' ने सभा पर गहरा प्रभाव डाला, मतिराम ! स्वयं दिल्लीश्वर भी उसकी प्रशंसा किये विना न रह सके।

मतिराम : इसमें आश्चर्य ही क्या ? 'मणिमाल' की काव्य-मणिमाल से कौन प्रभावित न होगा दादाजी !

चिन्तामणि : चिन्तामणि को सबकी प्रसन्नता की चाह नहीं है, मतिराम ! शाहंशाह शाहजहाँ और रुद्रसाहि सोलंकी जैसे ऐश्वर्यवान् रीझते रहें, इसी में 'मणिमाल' की शोभा और सार्थकता है। और हाँ, तुम्हारा 'रसराज' भी तो अब पूर्ण हो गया होगा। मेरी इच्छा है, उसे एक बार दिल्लीश्वर को दिखाऊँ ! नये सम्राट् औरंगजेब को भी मुग्ध कर लेने की क्षमता तुम्हारी इस कृति में है।

मतिराम : मेरे 'रसराज' में ?

चिन्तामणि : हाँ-हाँ ! शृंगार-श्री का इतना सरस चित्रण किसी कवि ने किया है ? तुम्हारी रस-स्निग्ध तूलिका द्वारा अंकित स्मितमुखी नायिकाओं के वीक्षण-मात्र से प्रणय के प्रियंगु की डाल-डाल खिल उठा करेगी, सहृदयों के हृदय में चिरकाल कला के आनन्द और आलोक की सृष्टि होती रहेगी, दुनिया की आँखें खुल जायेंगी।

भूषण : या दुनिया अन्धी हो जायगी, दादाजी ?

चिन्तामणि : यह कैसा प्रलाप है भूषण !

भूषण : विवेक के विपर्यय के इस युग में प्रत्येक सच्ची बात प्रलाप ही समझी जाती है, दादा !

चिन्तामणि : तात्पर्य ?

भूषण : तात्पर्य......मेरा तात्पर्य ?......देशकी स्वतन्त्रता का सूर्य अस्त है, सभ्यता और संस्कृति ध्वस्त है और विधर्मियों के अत्याचारों से जनता त्रस्त है। इस संकट-काल में कला की सुधा-वृष्टि और आलोक-सृष्टि के नाम पर स्मितमुखी नायिकाओं के वीक्षण की विष-वारुणी पिलाकर समाज को अधिकाधिक क्लीब और कापुरुष बनाने का उपक्रम अक्षम्य राष्ट्रद्रोह है।

मतिराम : तो क्या राष्ट्रसेवा की किसी नवीन पद्धति का आविष्कार आपने किया है, भूषण दादा ! किस ग्रन्थ-रत्न में आपकी प्रतिभा का वह प्रकाश प्रतिफलित हुआ है ?

जटाशंकर : (मुस्कराकर) कदाचित् उसी ग्रन्थ का गद्यांश तो आप अभी सुना रहे थे।

भूषण : (क्रोध से) दुर्विनीत नीलकण्ठ ! (चिन्तामणि से) दादा !

चिंतामणि : हाँ, तो फिर होना क्या चाहिए, भूषण ?

भूषण : विधाता ने आपको कवि-प्रतिभा का सर्वश्रेष्ठ वरदान प्रदान किया है, आपको मैं क्या बताऊँ ? क्या आप देखते नहीं कि आज हमारे पवित्र नगर, तीर्थ और देवालय सब नष्ट-भ्रष्ट हो चुके हैं। देश की असंख्य जनता शासकों के अत्याचार-यन्त्र में निष्पेषित होकर दाने-दाने को मुहताज हो रही है। इस अवसर पर प्रबुद्ध कवि की वाणी ही राष्ट्र का अवलम्बन हो सकती है, दादा !

मतिराम : साहित्य में एक अभिनव कला-आन्दोलन के प्रवर्त्तक अपने युग के सर्वश्रेष्ठ आचार्य और यशस्वी पण्डित चिन्तामणि को इस प्रकार उपदेश करने में आपको संकोच नहीं होता, भूषण दादा ! ऐसी धृष्टता करने के पूर्व अपनी विद्वत्ता का भी तो कुछ प्रमाण दिया होता। डण्ड पेलना और कविता करना एक ही बात नहीं।

चिन्तामणि : (कुछ उत्तेजित होकर) समझ में आ गया, भूषण! तू चाहता है कि अपनी कवित्व-शक्ति से जो अपार ऐश्वर्य, धन-धान्य, स्वर्ण-स्त्री, हाथी-घोड़े मैंने अर्जित किये हैं, उसे दिल्लीश्वर के विरोध की ज्वाला में भस्म हो जाने दूँ और तुझसे प्रबुद्ध कवि होने का प्रमाणपत्र प्राप्त करने के लिए मैं भी दाने-दाने को मुहताज हो जाऊँ ?

भूषण : दादा, कवि को ऐश्वर्य की अपेक्षा नहीं होनी चाहिए ! विलास-वासना के कलंक-पंक में लेखनी को कलुषित कर कल्पित नायिकाओं के नख-शिख के निर्लज्ज चित्रण द्वारा देशद्रोहियों, धर्मद्वेषियों और समाजविरोधियों को प्रसन्न करके ऐश्वर्य बटोरना कवि-जीवन की सबसे बड़ी विडम्बना है। कवि की सच्ची विभूति तो मानवता के सर्वोच्च आदर्शों का जनक यह भारत और उसकी ज्योतिर्मयी परम्पराओं की प्रतीक भगवती भारती की वीणा के अविनश्वर स्वर हैं। देश, धर्म, संस्कृति और देशवासियों की दुरवस्था की उपेक्षा कर संचित किया गया आपका यह धन नितान्त दूषित है, आपके हाथी-घोड़े तो मेरी दृष्टि में पड़वों और खच्चरों से भी गये-गुजरे हैं। आज तो कवि-कर्म की सार्थकता इसी में है कि दुर्गतिहारिणी दुर्गाओं और मुक्तकुन्तला द्रुपद-सुताओं के कोपानल से प्रज्वलित प्रतिशोध-अनल में राष्ट्र के अपमान की चिता जलाने का पौरुष समाज में उत्पन्न हो और अन्याय-दमन में तत्पर एवं स्वधर्म-राज्य की स्थापना के व्रती नायक सामने आयें।

चिन्तामणि : (क्रोध से) अच्छा...इतना दर्प ! इतना दुःसाहस ! मेरा धन दूषित है, मेरे हाथी पड़वों से गये-गुजरे !......मेरी ही रोटियों पर जीवन-यापन करने वाला छोकरा मुझे ही उपदेश देने चला है। यदि साहस हो, तो चला जा मेरा दूषित धन-धान्य छोड़कर अन्याय-दमन में तत्पर एवं स्वधर्म-राज्य की स्थापना के व्रती नायक की खोज करने !

भूषण : दादा...!

चिन्तामणि : बस, बहुत हो चुका ! यदि तुझे देश और धर्म की दुरवस्था का दंश सता रहा है, तो जा, स्वधर्म-राज्य-स्थापना के व्रती किसी नायक के पास और सुना उसे अपना उपदेश ! मैं भी देखूँ, अपनी कमाई का नमक तक न खा सकनेवाला पौरुषहीन, अकर्मण्य, आवारा किस प्रकार समाज में राष्ट्र के अपमान की चिता जलाने का पौरुष उत्पन्न करता है।

भूषण : बस कीजिए, दादा ! अब नहीं सहा जाता। मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि आज से आपके इस घर में...।

चिन्तामणि : चुप रह कुलदूषण, रत्नाकर की उज्ज्वल परम्परा को कलंकित करनेवाले पाषाण ! मेरी आँखों की ओट हो जा, मैं तेरा मुँह नहीं देखना चाहता हूँ। **(स्वयं चले जाते हैं)**

नीलकण्ठ : भूषण दादा, तो क्या आज ही आप द्रुपद-सुताओं के प्रतिशोध-अनल को प्रज्वलित करने चले जायेंगे !

मतिराम : कुल के गौरव और मान को उसमें भस्म होने से बचाइएगा, भूषण दादा ? **(दोनों हँसते हुए जाने लगते हैं।)**

भूषण : **(आकाश की ओर देखकर)** इतना अपमान...इतना अभिमान... इतना अज्ञान...ओह ! परतु...मा-मा । यदि मैं तेरा सच्चा सपूत हूँ, तो मेरी साधना क्रान्ति का ज्वालामुखी बनकर समाज के पाप-ताप को भस्म करेगी !...मैं ही चिन्तामणि द्वारा प्रवर्त्तित रीति-परम्परा का परिष्कार करूँगा, पतन के गर्त्त से उसका उद्धार करूँगा !...मेरी कविता देश और धर्म के संरक्षक नायकों की शाश्वत शक्ति और स्फूर्त्ति बनेगी !

(जाते हैं, दृश्य बदलता है।)

दूसरा दृश्य

स्थान : आगरा का किला ।

[दीवाने-आम में तख्त-ताऊस पर सम्राट् औरंगजेब विराजमान हैं। सब सभासद यथास्थान बैठे हैं। बहुसंख्य बद्धांजलि भृत्यगण आदेश की प्रतीक्षा में अपने-अपने नियत स्थान पर मूर्त्तिवत् अचल खड़े हैं। आज शाहंशाह की ताजपोशी की सालगिरह है। दूर से शहनाई की मधुर ध्वनि आ रही है। फ़ारसी के कुछ शायर बादशाह की तारीफ में कविताएँ पढ़ चुके हैं।]

फाजिल अली शाह : जहाँपनाह, भाषा के भी कुछ शायर हुजूर को अपनी शायरी सुनाना चाहते हैं, क्या हुक्म होता है ?

औरंगजेब : कहाँ के हैं वे शायर ?

फाजिल अली शाह : एक तो हैं कम्पिला के सुखदेव मिश्र, दूसरे हैं अन्तर्वेद के कालिदास त्रिवेदी और तीसरे हैं तिकवाँपुर के भूषण।

औरंगजेब : अच्छा, सुनायें ये लोग अपनी शायरी, हालाँकि शायरों के मुबालगे की दुनिया में मेरी कोई दिलचस्पी नहीं।

फाजिल : कालिदासजी, पहले आप सुनाइए।

कालिदास : जो आज्ञा।

गढ़न गढ़ी से गढ़ि, महल मढ़ी में मढ़ि,
बीजापुर लोप्यो दलिमलि सुघराई में।
'कालिदास' कोप्यो बीर औलिया अलमगीर,
तीर-तरवारि गही पुहुमी पराई में।
बूँद ते निकसि महि-मंडल घमंड मची,
लोहू की लहरि, हिमगिरि की तराई में।
गाड़ि के सुझंडा आड़ कीनी बादशाह, तातें
डकरी चमुंडा गोलकुंडा की लड़ाई में।

औरंगजेब : यह मुबालगा नहीं, तो क्या है ? खैर, दूसरे शायर सुनायें !

सुखदेव : **जेती पर पृथु रथ कियो, जेती धरी फनीस।**
तेती जाती आनि है, औरंगजेब दिलीस ॥

[सारी सभा 'वाह-वाह' करती है, कवियों को खिलअतें और पुरस्कार मिलते हैं।)

औरंगजेब : मुझे अपनी झूठी तारीफ सुनकर कभी राहत नहीं मिली, क्या कोई शायर मेरी सच्ची तारीफ भी कर सकता है ?

भूषण : शाहंशाह ! हुक्म हो, तो मैं कोशिश करूँ ?

औरंगजेब : आप कौन हैं ?

फाजिल : यही तिकवाँपुर के शायर भूषण हैं।

औरंगजेब : तिकवाँपुर के एक शायर चिन्तामणि वालिद के दरबार में आया करते थे, वहीं के हैं आप ?

भूषण : शाहंशाह, आचार्य चिन्तामणि मेरे बड़े भाई हैं।

औरंगजेब : अच्छा, लेकिन आप शायद इससे पहले कभी वालिद मरहूम या मेरे दरबार में नहीं आये ?

भूषण : कभी नहीं जहाँपनाह ! आज एक संयोगवश मुझे यह अवसर प्राप्त हो गया।

औरंगजेब : कैसा संयोग, शायर ?

भूषण : मैंने सुना था कि दक्षिण के अप्रतिम वीर-युगावतार महाराज शिवाजी आपके दरबार में उपस्थित हुए हैं। सोचा, चलकर उनके दर्शन करूँ। परन्तु दुःख है, वह मेरे यहाँ पहुँचने के पूर्व ही आपके कारावास से निकलकर चले गये। फिर, मैंने सोचा कि उन बादशाह के भी दर्शन कर लूँ, जिनके विरोध की कसौटी पर शिवाजी का व्यक्तित्व कुन्दन की तरह दमक उठा है। जहाँपनाह, शिवाजी के साथ आपका नाम भी इतिहास में अमर रहेगा।

(भूषण की बातें सुनकर अनेक सभासद घबड़ा उठते हैं। औरंगजेब को दिखाने के लिए कुछ लोगों की त्यौरियाँ बदल जाती हैं।)

औरंगजेब : **(गम्भीर होकर)** बागी शिवाजी के बारे में तुम्हारे इतने ऊँचे खयालात हैं, शायर ! क्या तुम नहीं जानते कि यह भी बगावत है ?

भूषण : अन्याय और अधर्म के प्रतिरोध में प्रवृत्त वीरों का गुणगान कवि का जन्मसिद्ध अधिकार है, जहाँपनाह ! कवि तो स्वयं ही अन्याय और अधर्म के विनाश के लिए छोड़ा गया नियति का अमोघ तीर है। उसका नश्वर शरीर नष्ट हो सकता है, पर उसकी अनश्वर वाणी पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लग सकता।

औरंगजेब : मेरे दरबार में शिवाजी की तारीफ बहुत बड़ी गद्दारी और नाफरमानी है, लेकिन मैं तुम्हारी दिलेरी और सचाई से खुश हूँ, शायर !

भूषण : यह शाहंशाह की कृपा है। मैं अनुगृहीत हूँ।

औरंगजेब : क्या तुमने शिवाजी पर कुछ लिखा भी है ?

भूषण : बहुत कुछ जहाँपनाह !

औरंगजेब : मैं उसमें से कुछ सुनना चाहता हूँ।

भूषण : अविनय क्षमा हो ! जहाँपनाह मुझे प्राणदण्ड देने का कोई बहाना खोज रहे हैं ?

औरंगजेब : भूषण, बेफिक्र रहो ! तुमको प्राणदण्ड नहीं दिया जायगा। कुफ्र से मुझे जितनी नफरत है, सचाई से उतनी ही मुहब्बत भी है। अपनी शायरी सुनाओ।

भूषण : लेकिन, मेरी कविता तो वीर रस की है, जहाँपनाह ! मैंने इन कवियों की तरह धनिकों को प्रसन्न करने के लिए नायिका-भेद नहीं लिखा। मेरी कविता तो शौर्य और शक्ति का संगीत है—सत्य और धर्म का विजय-घोष ! सच्चे कवि की वाणी में असत्य का स्पर्श भी नहीं होता।

औरंगजेब : यह और अच्छी बात है। अगर तुम्हारी शायरी सुनकर मुझे जोश आ गया, तो तुम्हें इनाम भी मिलेगा।

भूषण : तो सुनिए जहाँपनाह, मैं महाराज शिवाजी की भारतप्रसिद्ध कृपाण-भवानी की प्रशंसा में लिखा गया अपना छन्द पढ़ता हूँ :

जिन फन-फूतकार उड़त पहार भारे,
कूरम कठिन जनु कमल बिदलिगो।
विष-जाल ज्वालामुखी लवलीन होत जिन,
झारन चिकारि मद दिग्गज उगलिगो।
कीन्हो जेहि पान पय-पान-सो जहान कुल,
कोलहू उछलि जलसिंधु खलभलिगो।
खग्ग-खगराज महाराज सिवराज जू को,
अखिल भुजंग-मुगलद्दल निगलिगो।

(औरंगजेब का हाथ सहसा अपनी मूँछों पर पहुँचता है, सारी सभा स्तब्ध रहती है।) एक और छन्द सुनिए सम्राट् :

दुग्ग पर दुग्ग जीते सरजा शिवाजी गाजी,
डग्ग नाचे डग्ग पर, रुंड-मुंड फरके ;
'भूषण' भनत बाजे जीति के नगारे भारे,
सारे करनाटी भूप सिंहल को सरके।
मारे मुनि सुभट पनारे वारे उद्भट,
तारे लागे फिरन सितारे-गढ़धर के।
बीजापुर बीरन के, गोलकुंडा धीरन के,
दिल्ली-उर-मीरन के दाड़िम-से दरके।

(औरंगजेब और बहुत-से सभासद मूँछों पर ताव देते हैं, लेकिन सन्नाटा छाया हुआ रहता है, कोई हिलता-डुलता भी नहीं।)

औरंगजेब : भूषण, तुम्हारी कविता वाकई बहुत पुरजोश है। अजीब कशिश है उसमें !...हालाँकि तुमने मेरे सबसे बड़े दुश्मन की तारीफ की है, लेकिन...खैर ! हाँ, क्या तुम्हारी कविता में मेरा भी कुछ जिक्र है ?

भूषण : लिखा अवश्य है, सम्राट् ! पर अप्रिय सत्य है।

औरंगजेब : मैं उसे भी सुनूँगा।

भूषण : जो आज्ञा, जहाँपनाह !

दारा की न दौरि यह, खजुबे की रारि नाहिं
बाँधिबो न होय या मुरादशाह-बाल को।
मठ विश्वनाथ को, न बास ग्राम गोकुल को,
देवी को न देहरा, न मंदिर गोपाल को।
गाढ़े गढ़ लीने, अरु बैरी कतलाम कीन्हें,
ठौर-ठौर हासिल उगाहत है साल को;
बूड़ति है दिल्ली, सो सँभारै क्यों न दिल्लीपति,
धक्का आनि लाग्यो सिवराज महाकाल को।
चढ़त तुरंग चतुरंग साजि सिवराज,
चढ़त प्रताप दिन-दिन अति जंग में;
'भूषण' चढ़त मरहट्टन के चित्त चाव,
खग्ग खुलि चढ़त है अरिन के अंग में।
भौंसिला के हाथ गढ़ कोट है चढ़त, अरि-
जोट हैं चढ़त एक मेरु-गिरि संग में।
तुरकानगन व्योम-यान हैं चढ़त,
बिनु मान ह्वै चढ़त बदरंग नवरंग में।

(औरंगजेब का मुख क्रोध से तमतमा उठता है, उसके अंगरक्षकों का हाथ तलवार की मूठ पर चला जाता है; किन्तु सब शान्त हैं। भूषण सर्वथा उदासीन हैं, जैसे कुछ नहीं हुआ।)

औरंगजेब : (क्रोध से) इतनी हिम्मत !...दुश्मन को अपने चंगुल में पाकर माफ करना औरंगजेब ने नहीं सीखा !...फिर भी मैंने वादा किया

है !...और जबानी जमा-खर्च करनेवाले शायर से सल्तनत को कोई खास खतरा नहीं !...फाजिल अली, इन्हें ले जाओ, कुछ इनाम दे दो !...इनको अच्छी तरह समझा दो कि दो दिन के भीतर मेरी हुकूमत की हद के बाहर चले जायँ। दो दिन के बाद अगर मेरी सल्तनत में यह कहीं दिखाई पड़ें, तो इनकी बोटी-बोटी कुत्तों से नुचवा दी जाय। समझे !

फाजिल अली शाह : जो हुक्म, जहाँपनाह !

(भूषण अभिवादन करते हैं। फाजिल अली उनको साथ लेकर चले जाते हैं। औरंगजेब दरबार को भी बरखास्त कर देता है।)

औरंगजेब : (अपने-आप) यह कवि भी एक बेजोड़ हस्ती है। इस जमाने के जिन चन्द लोगों ने मेरे दिल पर और मेरी जिन्दगी पर गहरा असर डाला है, उनमें यह भी एक है !....शिवाजी की तरह यह भी हिम्मत और दिलेरी का पुतला है ! लेकिन है तो दुश्मन ही...और शायद बहुत खतरनाक...!

(सिंहासन से उतरकर कुछ सोचता हुआ धीरे-धीरे अन्त:पुर की ओर जाता है।)

तीसरा दृश्य

स्थान : पर्वतमालाओं से घिरा हुआ वन-पथ।

[सामने रायगढ़ का दुर्ग दिखाई देता है। भूषण प्रवेश करते हैं। उनके वस्त्र मलिन और जीर्ण-शीर्ण हैं, केश रूखे और बिखरे हुए, मुख पर स्वेद और क्लेश के चिह्न वर्त्तमान हैं।]

भूषण : आ ही गया मेरे स्वप्नों का देश...यह रायगढ़ ! यही तो है राष्ट्र की स्वातन्त्र्य-साधना का सिद्धपीठ, भवानी का ज्योतिर्मय तीर्थ-

राज। वह ऊपर राष्ट्र के तप, त्याग और बलिदान-परम्परा का प्रतीक परम पवित्र भगवा ध्वज लहरा रहा है, मानो अधर्म का संहार करने के लिए शिव का तीसरा नेत्र धीरे-धीरे खुल रहा है। वहाँ आकर मेरी सारी श्रान्ति-क्लान्ति दूर हो गई।...इस भूमि का कण-कण बाजीप्रभु जैसे महावीरों के बलिदान से पूत है, वन्दनीय है, अभिनन्दनीय है। धन्य शिवा, तेरी कीर्त्ति का गान करके मेरा कवि-जीवन सार्थक हो गया।...आँख मूँदकर ध्यानस्थ-से ऊँचे होकर स्वर से गाते हैं :

दशरथ जू के राम भे, बसुदेव के गोपाल।
सोई प्रगट्यो साहि के श्री सिवराज भुआल॥
उदित होत सिवराज के मुदित भए द्विजदेव।
कलियुग हट्यो, मिट्यो सकल म्लेच्छन कौ अहमेव॥

(एक अत्यन्त तेजस्वी प्रौढ व्यक्ति का प्रवेश। वह आखेट के लिए निकले हैं। इस गान ने उनका ध्यान आकृष्ट किया है और वह अपना घोड़ा छोड़कर भूषण के निकट आये हैं।)

आगन्तुक : किसका ध्यान और यशोगान कर रहे हो, पथिक ?

भूषण : (चौंककर, आँखें खोलते हुए) राष्ट्र के देवता, युगपुरुष महाराज शिवाजी का! उन्हीं का तो यह रायगढ़ सामने दिखाई देता है न, बन्धु ?

आगन्तुक : हाँ, उन्हीं का यह रायगढ़ है, पथिक !

भूषण : (पुलकित होकर) '....ऐसो ऊँची दुरग महाबली को, जामैं नखतावली-सो बहस दीपावली करत है।'

आगन्तुक : आप कौन हैं और कहाँ से आये हैं, पथिक !

भूषण : मैं एक कवि हूँ, और स्वधर्म-राज्य-स्थापना के व्रती महाराज शिवाजी के दर्शनार्थ उत्तर भारत से आया हूँ। तेजस्वी पुरुष, आप कौन हैं ? क्या आप मेरी कुछ सहायता कर सकेंगे ?

आगन्तुक : क्यों नहीं, कविश्रेष्ठ ! मैं महाराज का कृपापात्र अनुचर हूँ। आप मेरे साथ चलें, महाराज प्रसन्नता से आपका स्वागत करेंगे।

भूषण : महाराज शिवाजी के अनुगत के उपयुक्त शील है आपमें ! आप मुझे महाराज के दरबार तक पहुँचा दें, मैं उन्हें अपनी रचनाएँ सुनाऊँगा।

आगन्तुक : इसमें आपको कोई कठिनाई नहीं होगी। हमारे महाराज का द्वार सदा सबके लिए खुला रहता है, फिर आप तो सरस्वती के वरपुत्र हैं। कृपया आप अपना पूरा परिचय दें।

भूषण : मैं हूँ कवि भूषण।

आगन्तुक : धन्य हैं आप, महाकवि ! आप बहुत थके प्रतीत होते हैं। क्या आपने यह विकट यात्रा पैदल ही कर डाली ?

भूषण : मैं आगरा गया था, यह सुनकर कि महाराज शिवाजी वहाँ हैं। परन्तु मेरे वहाँ पहुँचने के पूर्व ही महाराज औरंगजेब के कारावास से निकलकर चले आये। कौतूहलवश मैं औरंगजेब के दरबार में भी गया। उसने मुझे कुछ छन्द सुनाने को बाध्य किया। छन्द सुनकर अत्यन्त क्रुद्ध होकर उसने मुझे दो दिन के भीतर अपने राज्य की सीमाएँ छोड़ देने की आज्ञा दी।

आगन्तुक : लेकिन औरंगजेब की सीमाएँ दो दिन में पार कर लेना तो असम्भव कर्म है, महाकवि ! अत्याचारी औरंगजेब के क्रोधानल से आप बचे कैसे ?

भूषण : परम सुहृद् चित्रकूट के सोलंकी-नरेश रुद्रराज के स्नेहोपहार कबूतरी ने मेरी प्राण-रक्षा की। प्रभंजन को भी लज्जित करनेवाली वह अश्विनी मुझे दो ही दिनों में नर्मदा के इस पार ले आई। मेरे सम्बन्ध में औरंगजेब का आज्ञापत्र तो बाद को इधर आया होगा। खेद है, मेरी प्राणदात्री कबूतरी भूख-प्यास से अत्यन्त आतुर होने के कारण एक शैलखण्ड से टकराकर गिरकर मर गई, फिर तो मैंने शेष

यात्रा पैदल ही की। मित्र, जो आनन्द योगी को मधुमती भूमिका में पहुँचने पर होता है, वही आनन्द मुझे स्वराज्य-साधना के इस पुण्य क्षेत्र में पहुँचकर मिला है। रायगढ़ दुर्ग पर फहराते हुए बन्दनीय भगवा ध्वज को देखकर मेरे पाप-ताप सब नष्ट हो गये हैं।

आगन्तुक : महाकवि, आपके शब्द-शब्द में स्वराज्य-साधना की महती प्रेरणा प्रज्वलित है! हमारे महाराज आपको प्राप्त कर अपने को कृतार्थ समझेंगे। पर आदरणीय बन्धु ! क्या आप मुझे अपनी कोई कविता सुनाने की कृपा कर सकेंगे ?

भूषण : क्यों नहीं ! क्यों नहीं ! सुनिए :

इंद्र जिमि जंभ पर, बाड़व सुअंभ पर,
रावन सदंभ पर रघुकुलराज हैं;
पौन बारिबाह पर, शंभु रतिनाह पर,
ज्यों सहस्त्रबाहु पर राम द्विजराज हैं।
दावा द्रुम-दंड पर, चीता मृग-झुंड पर,
'भूषण' बितुंड पर जैसे मृगराज हैं;
तेज तम-अंश पर, कान्ह जिमि कंस पर,
त्यों मलिच्छ बंस पर सेर शिवराज हैं।

आगन्तुक : **(उनकी भुजाएँ फड़कने लगती हैं, वक्षःस्थल उभड़ने लगता है।)** **एक बार और सुना दो महाकवि !**

भूषण : **(प्रसन्न होकर) फिर सुनो !**

आगन्तुक : **(सुन लेने के बाद)** एक बार और सुहृद्वर !

(भूषण फिर सुनाते हैं, परन्तु आगन्तुक तृप्त नहीं होते : वह बार-बार भूषण से वही छन्द सुनाने का आग्रह करते हैं, भूषण बार-बार सुनाते हैं। इस तरह भूषण को बावन बार वही छन्द पढ़ना होता है। आगन्तुक एक बार फिर वही छन्द सुनाने का आग्रह करते हैं।)

भूषण : बावन बार मैं यह छन्द सुना चुका हूँ। क्या समझ रखा है आपने मेरी कविता को? आप क्षमा करें, मैं स्वयं महाराज से मिल लूँगा। मुझे आपकी सहायता की अपेक्षा नहीं।

आगन्तुक : क्षमा करो भाई, क्रुद्ध न हो। आपकी कविता में अद्भुत ओज और आकर्षण है, मैं मुग्ध हो गया। सचमुच सायंकाल निकट है। यहाँ से अत्यन्त निकट एक रमणीय सरोवर के तट पर देवालय है। अतिथि के रूप में आप चलकर आज वहाँ विश्राम करें। कल प्रातः आपकी भेंट महाराज से होगी।

(दोनों जाते हैं।)

चौथा दृश्य

स्थान : रायगढ़ के दुर्ग का सभा-भवन।

समय : प्रातःकाल

[सभा-भवन पूर्णरूप से सुसज्जित है। सब सभासद यथास्थान बैठे हैं। बीच में रत्नजटित सिंहासन पर परम तेजस्वी शिवाजी महाराज विराजमान हैं। उनके हाथ में उनकी आराध्या भवानी नाम की तलवार है।]

शिवाजी : ताना, महाकवि भूषण को यहाँ लाने का प्रबन्ध हो गया?

तानाजी : हो गया महाराज! उनके लिए शिविका भेज दी गई है, आते ही होंगे।

(एक भृत्य प्रवेश कर अभिवादन करता है।)

भृत्य : अन्नदाता, महाकवि भूषण की शिविका द्वार पर उपस्थित है।

शिवाजी : ताना, उन्हें ससम्मान लाओ।

(ताना जाकर भूषण के साथ लौटते हैं। भूषण को आता हुआ देखकर महाराज शिवाजी सारे सभासदों के साथ खड़े हो जाते हैं। जसे ही भूषण सिंहासन के पास पहुँचते हैं, महाराज आगे वढ़कर उन्हें हृदय से लगा लेते हैं।

भूषण : आप...स्वयं...महाराज !!

शिवाजी : महाकवि, मैं ही हूँ, देश और धर्म का क्षुद्र सेवक शिवा। कृपा कर आप आसन ग्रहण करें। (**भूषण एक ऊँचे आसन पर बैठते हैं।**)

भूषण : मैंने अनजाने कल आपकी अवज्ञा की ! अपराध क्षमा हो राजेन्द्र !!

शिवाजी : कितना कष्ट मैंने आपको दिया, महाकवि ! बावन बार कविता सुनी ! पेशवाजी, महाकवि को बावन सर्वश्रेष्ठ गजेन्द्र आदरपूर्वक भेंट किये जायँ।

पेशवा : जो आज्ञा, देव !

भूषण : महाराज ! आपकी कृपा प्राप्तकर मुझे घोड़े-हाथी, हिरण्य-रत्न आदि किसी वस्तु की स्पृहा नहीं रही। स्वराज्य-साधना के व्रती, आपके सैनिकों को यदि मेरी वाणी कुछ प्रेरणा दे सकी, तो इसी में मैं अपना जीवन धन्य मानूँगा !

शिवाजी : (हाथ में खड्ग लेकर) इन भवानी की तरह आपकी वाणी भी सदैव मेरी शक्ति और साधना का प्रेरणा-केन्द्र रहेगी।

भूषण : देव, आज के कवि मुगलों की दासता में सन्तुष्ट रहनेवाले राजाओं की चाटुकारिता में लगे रहकर विपथगामी हो गये हैं। उन्होंने काव्य-परम्परा को दूषित और अपवित्र कर दिया है। मैंने उसके परिष्कार और उद्धार का व्रत लिया था। आपके यश का गान कर मेरा व्रत पूर्ण हुआ :

ब्रह्म के आनन ते निकसे ते अत्यन्त पुनीत तिहूँ पुर मानी ।
राम-युधिष्ठिर के बरने बलमीकहु ब्यास के अंग सुहानी ।
'भूषण' यों कलि के कविराजन राजस के गुन पाय नसानी ।
पुन्य चरित्र सिवा सरजा-सर न्हाय पवित्र भई पुनि बानी ।

सभासद : धन्य ! धन्य !!

भूषण : देव, मैंने 'शिवराज-भूषण' नामक ग्रन्थ का प्रणयन प्रारम्भ कर दिया है ! ग्रन्थ में प्रत्येक अलंकार के उदाहरण में महाराज की यशोगाथा निबद्ध है । मैं शीघ्र ही उस ग्रन्थ को पूरा कर सब सभासदों के सामने महाराज को समर्पित करना चाहता हूँ । क्या आज्ञा होती है ?

शिवाजी : माता जीजाबाई की आज्ञा से ताना के नेतृत्व में हमारे स्वराज्य-सैनिक शीघ्र ही सिंहगढ़ पर आक्रमण करेंगे । वे जब विजय प्राप्त करके लौटेंगे, तभी वह सारस्वत महोत्सव मनाने का उपयुक्त अवसर होगा ।

अनेक सभासद : हम विजय-महोत्सव और समर्पण-महोत्सव एक साथ मनायेंगे, महाकवि !

भूषण : सिंहगढ़ के अभियान में मुझे भी अपने स्वराज्य-सैनिकों के साथ जाने की आज्ञा प्रदान कीजिए, देव !

शिवाजी : (हँसकर) शिवराज और भूषण साथ रहेंगे ।

[पर्दा गिरता है ।]

५. महर्षि वेदव्यास

पात्र-परिचय

महर्षि वेदव्यास : पराशर-पुत्र श्रीकृष्णद्वैपायन व्यास, महाभारत के प्रणेता तथा वेदों के संकलनकर्त्ता

ब्रह्मा : सृष्टिकर्त्ता आदिदेव

गणेश : गिरिजा-शंकर के पुत्र, विघ्नेश, महाभारत के आदि लिपिक

सरस्वती : विद्या और वाणी की देवी

नारद : सम्पूर्ण सृष्टि में भ्रमण करनेवाले सुप्रसिद्ध देवर्षि

वेदव्यास के शिष्य ऋषि

पैल : ऋग्वेद के प्रथम आचार्य

जैमिनि : सामवेद के संरक्षक और प्रथम आचार्य, महान् संगीतशास्त्री

वैशम्पायन : यजुर्वेद के आदि आचार्य, महाभारत के प्रथम पारायणकर्त्ता ऋषि

सुमन्तु : अथर्ववेद के प्रथम आचार्य

रोमहर्षण : इतिहास-पुराणों के आदि स्नातक, महाभारत के प्रथम श्रोता

शुकदेव : महर्षि व्यास के पुत्र, परमहंस मुनि, श्रीमद्भागवत के आदि आचार्य

पहला दृश्य

स्थान : ब्रह्मनदी सरस्वती के तट पर महर्षि श्रीकृष्ण द्वैपायन व्यास का शम्याप्रास-नामक आश्रम।

समय : आषाढी पूर्णिमा का प्रभात, अग्निहोत्र हो चुका है।

[यज्ञधूम से वातावरण सुरभित है। महर्षि वेदव्यास यज्ञशाला में रुरुमृग के चर्म पर पद्मासनासीन हैं। वह अपने नेत्र निमीलित किये हुए गहन चिन्तन में लीन हैं। उनके दाहिने, बायें तथा सामने अनेक बद्धांजलि ऋषि-शिष्य विराजमान हैं।]

वेदव्यास : (**धीरे-धीरे नेत्र खोलकर एक अत्यन्त शान्त, शीतल एवं स्निग्ध दृष्टि समवेत ऋषि-मण्डली पर डालकर**) वत्स, दीर्घकाल के बाद तुम लोगों को देखकर मुझे आज बड़ी प्रसन्नता हो रही है। इस अवधि में तुम लोगों का तप और स्वाध्याय निर्विघ्न चलता रहा न? यम और नियमादि के आचरण में किसी प्रकार की त्रुटि तो नहीं होने पाई? तुम लोगों का शरीर और मन कर्म एवं चिन्तन में सम्यक् रत रहा है न?

जैमिनि : गुरुदेव, आप त्रिकालदर्शी योगेश्वर और स्वयं भगवान् नारायण के कलावतार हैं। यहाँ उपस्थित न होते हुए भी योगबल से आप प्राणवायु के समान हम सबके भीतर रहकर निरन्तर हमारे अन्तःकरणों के साक्षा रहे हैं। भला, आपसे छिपा ही क्या है?

पैल : जगद्गुरो, यद्यपि आप सोलह वर्ष तक हिमालय पर नितान्त एकान्त में उग्र तप और समाधि में स्थित रहे, किन्तु इस अवकाश में प्रत्येक क्षण हम आपसे प्रेरणा और पथ-प्रदर्शन प्राप्त करते रहे। अध्ययन और मनन की जटिल गुत्थियाँ आपके स्मरणमात्र से सरलता से सुलझती रहीं।

वैशम्पायन : विश्वगुरु, आपने हमलोगों के लिए तप और स्वाध्याय की जो परिपाटी निर्धारित की थी, उसका हम लोगों ने समग्रता के साथ अवलम्बन किया है। आज आपके दर्शन प्राप्त कर हमारे समस्त साधन सिद्धि के रूप में परिणत हुए प्रतीत होते हैं।

सुमन्तु : आप तत्त्व-ज्ञान-सम्पन्न महान् तपस्वी ऋषियों और श्रेष्ठ मुनियों से भी श्रेष्ठ हैं, गुरुदेव ! आपकी वाणी से निरन्तर वेद-तत्त्व प्रकाशित होता रहा है। हम लोगों के लिए अब आपका आदेश क्या है ?

पैल, वैशम्पायन और सुमन्तु (एक साथ) : गुरुदेव, अखण्ड ब्रह्मचर्य और उग्र तप द्वारा ज्ञान-विज्ञान एवं अध्यात्म के जिन उच्चतम क्षेत्रों में आपकी मेधा संचरण करती रही है, क्या हम लोग भी अब उनमें प्रवेश के अधिकारी हो सके हैं ?

वेदव्यास : पुत्रो, मैं तुम लोगों के तप, स्वाध्याय और ब्रह्मचर्य-व्रत के त्रुटिहीन आचरण से बहुत प्रसन्न हूँ। तुमलोग ज्ञानकाण्ड की एक-एक विशेष शाखा को पल्लवित करने के अधिकारी बन गये हो। विश्व की इस विषम होनेवाली स्थिति में तुम लोगों पर बड़ा भारी उत्तरदायित्व आनेवाला है !

वैशम्पायन : विश्व की विषम होनेवाली स्थिति का रहस्य हम लोग नहीं समझे, गुरुदेव !

वेदव्यास : वत्स, इस समय द्वापर का तीसरा चरण समाप्त होनेवाला है। धीरे-धीरे आर्य जाति के धर्माचरण में शैथिल्य आने लगा है। इस धर्मसंकरता के कारण अन्ततः संसार के लोगों का श्रद्धाहीन और शक्तिहीन हो जाना अवश्यम्भावी है। धर्महीन व्यक्तियों का कर्त्तव्या-कर्त्तव्य-विवेक नष्ट हो जाता है। उनकी मेधा और धारणा-शक्ति अल्प और सीमित हो जाती है। आयु भी कम हो जाती है। मानव-जाति की इस भावी भाग्यहीनता को देखकर मैंने एक ही वेद के

चार विभाग कर दिये हैं। ये विभाग ऋक्, यजुः, साम और अथर्व के नाम से प्रसिद्ध होंगे। इस विभाग द्वारा मैंने वेद-तत्त्व को सुगम कर दिया है। जिनकी धारणा-शक्ति अपेक्षाकृत कम है, वे भी अब वेदों को धारण कर सकेंगे।

पैल : गुरुदेव ! अशेष मानव-जाति के परम कल्याण का अपनी दिव्य दृष्टि से साक्षात्कार कर आपने अद्भुत विधान किया है। आप धन्य हैं।

वेदव्यास : मैंने जो कुछ किया है, उसको अधिकाधिक लोकोपयोगी और पूर्ण बनाने का उत्तरदायित्व तुम लोगों का है, वत्स !

सुमन्तु : प्राणपण से हम लोग आपके इस महान् ज्ञानयज्ञ को पूर्ण करेंगे। आज्ञा प्रदान करें, गुरुदेव !

वेदव्यास : वत्स पैल, ऋग्वेद के अध्ययन-अध्यापन, विस्तार और प्रस्तार का उत्तरदायित्व तुम्हारा होगा। तुम्हीं इसके प्रथम आचार्य बनोगे।

पैल : जो आज्ञा भगवन् !

वेदव्यास : जैमिनि, तुम संगीतशास्त्र के भी विशेषज्ञ हो, इसलिए सामवेद की महती ज्ञाननिधि के संरक्षक और प्रथम शिक्षक तुम होगे।

जैमिनि : कृतकृत्य हो गया, गुरुदेव !

वेदव्यास : वैशम्पायन, यजुर्वेद के पठन-पाठन का दायित्व तुम्हारा होगा। तुम्हीं इसके आदि आचार्य होने की कीर्त्ति प्राप्त करोगे, पुत्र !

वैशम्पायन : आपका यह प्रसाद प्राप्त कर मेरा जीवन सफल हो जायगा गुरुदेव !

वेदव्यास : (**मन्द स्मिति के साथ**) वत्स सुमन्तु, तुम्हें दारुण तप प्रिय है, इसलिए मैंने तुम्हें विचित्र रहस्यों से भरे अथर्ववेद का गोप्ता चुना है। तुम्हीं इसके प्रथम आचार्य के रूप में अमर कीर्त्ति प्राप्त करो।

सुमन्तु : मेरे दारुण तप का बड़ा मधुर फल प्राप्त हुआ, गुरुदेव ! मैं धन्य हो गया।

वेदव्यास : इतिहास और पुराणों के आदि स्नातक और आचार्य तुम होगे, वत्स रोमहर्षण !

रोमहर्षण : जो आज्ञा गुरुदेव !

वेदव्यास : पुत्रो, मानव-जाति की मेधा और स्मृति उत्तरोत्तर क्षीण होती जायगी। तुम लोग उनके हित और सुविधा के लिए अपनी-अपनी शाखाओं को अन्य अनेक विभागों में बाँट देना। फिर, यथासमय तुम लोगों के शिष्य-प्रशिष्य और उनके शिष्य वेदों की बहुत-सी शाखाएँ बना देंगे, जिससे अल्प मेधा और धारणा-शक्तिवाले व्यक्ति भी वेदार्थ की कुछ-न-कुछ धारणा करने में समर्थ हो सकेंगे।

वैशम्पायन : संसार की ज्ञान-साधना के इतिहास में आज का दिवस चिरकाल तक अद्वितीय रहेगा, गुरुदेव ! लोग व्यास-पूर्णिमा कहकर इस तिथि का स्मरण करेंगे।

समवेत ऋषि-मण्डली : अवश्य ! अवश्य !

वेदव्यास : नहीं, नहीं वत्स ! सच्चे ज्ञानान्वेषी के मन में किसी प्रकार की आसक्ति नहीं रहनी चाहिए, यशैषणा तो उसकी बहुत बड़ी दुर्बलता है। वस्तुतः, किसी भी प्रकार की कामना पूर्ण निरपेक्ष सत्य की उपलब्धि के मार्ग में एक दुर्लंघ्य बाधा है।

पैल : पर, यह तो हम लोगों का प्रस्ताव है। आपकी आसक्ति का प्रश्न ही कहाँ उठता है, गुरुदेव ?

वेदव्यास : मैं तुम लोगों से भिन्न ही कहाँ हूँ, वत्स ? गुरु का व्यक्तित्व ही तो उसके शिष्यों में प्रतिफलित होता है।

जैमिनि : तब हम इसे गुरु-पूर्णिमा कहकर पुकारेंगे, जगद्‌गुरो !

[व्यास मन्द स्मिति के साथ अपने नेत्र बन्द कर लेते हैं।]

(दृश्य-परिवर्त्तन)

दूसरा दृश्य

स्थान : वही

समय : प्रातःकाल

[सरस्वती-तटवर्त्ती अपने उटज के प्रांगण में चारों ओर से उन्मुक्त एक तृण-मण्डप के नीचे भगवान् वेदव्यास विराजमान हैं। उनके सामने ही व्याघ्र-चर्म और ऊपर निर्मल नील कौशेय बिछा है, जिसपर वरद मुद्रा में गणेशजी विराजमान हैं। हाथ जोड़कर व्यास के पीछे अत्यन्त विनीत मुद्रा में उनके तीन शिष्य बैठे हैं।]

वेदव्यास : (हाथ जोड़कर) भक्तवांछाकल्पतरु ! मेरे लिए आपने बड़ा कष्ट किया, मैं आपके दर्शन पाकर धन्य हो गया।

गणेश : आप तत्वज्ञान-सम्पन्न महर्षि हैं। देवताओं में भी आपका असाधारण आदर और सम्मान है। आपके स्मरण करते ही पितामह ब्रह्माजी ने मुझे आज्ञा दी कि मैं आपके पास तत्काल जाकर आपकी सहायता करूँ।

वेदव्यास : पितामह की मेरे ऊपर बड़ी कृपा है। उन्होंने स्वयं यहाँ उपस्थित होकर मुझे आपकी सहायता प्राप्त करने की प्रेरणा दी।

गणेश : पितामह ने मुझे बतलाया कि व्यास ने तपस्या और ब्रह्मचर्य की शक्ति से वेदों का विभाजन कर लेने के बाद अब एक अद्भुत महाकाव्य की रचना की है, जिसमें मेरा भी कुछ सहयोग अपेक्षित है। महर्षि, आपके महाकाव्य का उद्देश्य क्या है, वेदों का सम्पादन और विभाजन करने के बाद जिसकी रचना की आवश्यकता आपको प्रतीत हुई ?

वेदव्यास : विघ्नेश ! वेदों के विभाग कर लेने के बाद मैंने सोचा कि अब भी संसार में ऐसे लोगों की संख्या बहुत अधिक है, जो वेदार्थ की उपलब्धि के अधिकारी नहीं हैं। ऐसे लोग वेदोक्त कर्म का आचरण

कर अपने कल्याण का विधान नहीं कर सकते, इसलिए वेद-तत्त्व को सार्ववर्णिक बनाने के लिए मैंने मन-ही-मन महाभारत की रचना की है, जिसको लिपिबद्ध करनेवाला कोई नहीं मिलता।

गणेश : इस महाकाव्य में आपने किन विषयों का प्रतिपादन किया है ?

वेदव्यास : इसमें वैदिक और लौकिक सभी विषयों का समावेश है। इसमें वेदांग-सहित उपनिषद्, वेदों की क्रिया का विस्तार, इतिहास, पुराण, भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान के वृत्तान्त, वृद्धता, मृत्यु-भय, व्याधि आदि के भावाभाव की समीक्षा, वर्णाश्रम-धर्म, पुराण-तत्त्व, तपस्या, ब्रह्मचर्य, पृथ्वी. सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, तारा और युगों का वर्णन, उनका परिणाम; ऋग्वेद, यजुर्वेद, साम-चिकित्सा, दान, पाशुपतधर्म, देवता और मनुष्यों की उत्पत्ति, पवित्र तीर्थादि, अन्य पवित्र देश, नदी, पर्वत, वन, समुद्र, पूर्व कल्प, दिव्य नगर, युद्ध-कौशल, विविध भाषा, विविध जाति, लोक-व्यवहार और सर्वोपरि सबमें परिव्याप्त परमातमा का विस्तृत वर्णन किया गया है।

गणेश : निःसन्देह, व्यापक विश्व-जीवन की ऐसी विराट् अभिव्यक्ति की कल्पना भी आजतक मानव-मन में आविर्भूत नहीं हुई होगी। फिर इतने बड़े महाकाव्य की रचना आपने मन-ही-मन कर डाली, यह बहुत बड़ा आश्चर्य है।

वेदव्यास : वैदिक संहिताओं के निर्माण का कार्य समाप्त कर मैंने वेदान्त-सूत्रों की रचना के द्वारा सनातन ब्रह्मतत्त्व का समास-शैली में, थोड़े-से-थोड़े शब्दों में, प्रतिपादन करने का प्रयत्न किया। व्यास-शैली में उसी की विस्तृत रसात्मक अभिव्यक्ति आपको महाभारत-काव्य में उपलब्ध होगी।

गणेश : ऐसे असाधारण महाकाव्य के लिखने का लोभ मैं नहीं संवरण कर सकता। पर मेरी एक शर्त्त है, महर्षि !

वेदव्यास : वह क्या, भगवन् !

गणेश : यदि मेरी लेखनी को आप क्षण-भर का भी विश्राम न करने दें, तो मैं आपका काव्य लिपिबद्ध करने का काम कर सकता हूँ।

वेदव्यास : मुझे स्वीकार है, किन्तु आप भी बिना समझे हुए एक भी शब्द न लिखें। मेरी यह प्रार्थना स्वीकार करें, सिद्धिसदन !

गणेश : तथास्तु !

वेदव्यास : तो फिर आप लिखने को उद्यत हों। लक्षाधिक श्लोक आपको बिना विश्राम किये लिखने हैं।

गणेश : आप बोलिए, मैं तैयार हूँ।

●

तीसरा दृश्य

स्थान : ब्रह्मलोक

[ब्रह्मलोक की सभा में ब्रह्माजी उच्चासन पर विराजमान हैं। उनके निकट ही एक ओर गणेशजी बैठे हैं और दूसरी ओर भगवती सरस्वती।]

गणेश : पितामह, मैं नहीं जानता था कि आप मुझे इतना कठोर दण्ड देनेवाले हैं, ओह ! **(अपने दाहिने हाथ की उँगलियाँ सहलाते हैं !)**

ब्रह्मा : क्यों, क्या हुआ वत्स ?

गणेश : व्यास की वाणी तो अव्याहत है, पितामह ! मन, पवन और सूर्य की किरण में भी तो वैसी गति नहीं। मैं तो लिखते-लिखते थक गया। मेरी उँगलियाँ अब भी दुख रही हैं।

ब्रह्मा : ठीक कहते हो वत्स ! व्यास की मेधा और प्रतिभा की थाह ये देवी सरस्वती भी नहीं पा सकी हैं। तुम उनकी वाणी के अजस्र प्रवाह को अक्षरबद्ध कर सके, यह कम आश्चर्य की बात नहीं।

सरस्वती : निस्सन्देह, व्यास ने मुझे गौरव प्रदान किया है। निरपेक्ष शाश्वत एवं पूर्ण सत्य का ऐसा स्मरणीय निरूपण आजतक कोई नहीं कर सका है। यह महाभारत-पुराण-रूपी पूर्ण चन्द्र वेद-तत्त्व की ज्योत्स्ना को छिटकाकर मानव-मन के अन्धकार को चिरकाल तक दूर करता रहेगा।

गणेश : ठीक कहती हो माँ ! सहस्र-सहस्र ज्वालामुखियों का विस्फोट भी व्यास की वाणी के प्रचण्ड ओज की समता नहीं कर सकता, उनकी वाणी का विराट् प्रसार देश और काल की सीमाओं का अतिक्रमण कर गया है। उसके सम्बन्ध में यह उक्ति सर्वथा उपयुक्त है—'यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्।'

ब्रह्मा : वत्स, व्यास की पुण्यमयी पापनाशिनी वाणी द्वारा धर्मचक्र का चिरन्तन प्रवर्त्तन हुआ है। जब कभी मानव-जाति धर्म-पराङ्मुख होकर अर्थ और काम के अधिकाधिक सेवन को ही अपना परम पुरुषार्थ समझने लगेगी, तब-तब व्यास की वाणी विषय-सुख की अनित्यता और धर्म की नित्यता का उद्घोष कर उसे सावधान करेगी।

गणेश : आप ठीक कहते हैं पितामह ! व्यास ने महाभारत में हाथ उठाकर पुकार-पुकारकर कहा है कि धर्म से केवल मोक्ष की ही नहीं, अर्थ और काम की भी सिद्धि होती है, वही परम सेवनीय है :

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे।
धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते।

जिस भारतवर्ष में व्यास जैसे तत्त्वद्रष्टा कवि का जन्म हुआ है, वह हम देवताओं के लिए वन्दनीय और अभिनन्दनीय है।

सरस्वती : यह सत्य है, गणेश ! वस्तुतः व्यास और भारत एक रूप हैं। जिसे भारतवर्ष को समझना हो, वह व्यास की वाणी का अनुशीलन करे, और जिसे व्यास को समझना हो, वह भारतीय संस्कृति को समझने की साधना करे, उसका अनुरागी बने।

ब्रह्मा : भारतवर्ष की महिमा अकथनीय है, वत्स ! व्यास के काव्य-प्रासाद में वही तो चिरन्तनता के सिंहासन पर प्रतिष्ठित है। सम्भव है, कोई ऐसा भी समय आये, जब एक आसुर-भावनापन्न शिश्नोदर-वादी संस्कृति का संसार में प्राधान्य हो जाय, ऐसे कुसमय में भारतवर्ष का ज्ञानालोक ही व्यास की वाणी द्वारा प्रोद्भासित होकर अज्ञानान्धकार में भटकते हुए संसार की रक्षा करेगा।

(हाथ में वीणा धारण किये हुए नारद का प्रवेश। वे ब्रह्मा के चरणों में प्रणाम करते हैं।)

नारद : तात ! व्यास के सम्बन्ध में आप अभी जो कुछ कह रहे थे, वह अक्षरशः सत्य है, किन्तु इतना सब कर लेने के बाद भी व्यास का चित्त पूर्ण स्वस्थ नहीं है। वे बहुत खिन्न हैं।

ब्रह्मा : ऐसा क्यों, वत्स ? महाभारत के रूप में पाँचवें वेद का निर्माण करनेवाले और वेदान्त-सूत्रों में सनातन ज्योतिर्मय कारण-स्वरूप तत्त्व-ब्रह्म का निर्वचन करनेवाले व्यास का मन अस्थिर है, यह विश्वास करने की बात नहीं। क्या तुमने इसके कारण का अनुसन्धान किया ?

नारद : हाँ तात ! मैं अभी उनसे मिलकर आ रहा हूँ। उनका ब्रह्म तेजःपूर्ण है, और शब्दब्रह्म तथा परब्रह्म, दोनों की पूर्ण प्राप्ति उनको हो चुकी है। फिर भी वह अशान्त हैं, और एक अभाव उनको खटक रहा है।

गणेश : वह कैसा अभाव है, देवर्षि ?

नारद : उनका कहना है कि उन्होंने भगवान् के तत्त्व का निरूपण तो किया, पर भगवान् को प्राप्त करानेवाले अमोघ साधन भक्ति-तत्त्व का निरूपण नहीं किया। इसीलिए, उनको अपना सारा कृतित्व अपूर्ण प्रतीत होता है। उनका चित्त शान्त नहीं है।

ब्रह्मा : इस उद्वेग के निवारण के लिए उन्होंने क्या उपाय सोचा है ?

नारद : अब वह विशेष रूप से भगवान् श्रीकृष्ण की ललित लीलाओं का कीर्त्तन करना चाहते हैं।

ब्रह्मा : यह तो बड़ा ही मंगलमय उपक्रम है, वत्स ! इससे संसार का बड़ा कल्याण होगा। भगवान् की दुर्बोध लीला सुबोध हो जायगी।

नारद : तात, आपने जिस भागवत तत्त्व का उपदेश मुझे किया था, उसी की विशद रसात्मक व्याख्या करने का अनुरोध मैंने व्यास से किया है। मेरा अनुरोध स्वीकार कर अचिन्त्यशक्ति भगवान् कृष्ण की ललित लीलाओं का स्मरण करते हुए वह समाधिस्थ हो गये हैं।

ब्रह्मा : (**प्रसन्न होकर**) धन्य, धन्य ! इस समाधि से व्यास के अभ्युत्थान के पश्चात् धरती पर भक्ति-मेघ की धारासार वृष्टि होगी। मानव के चिर-तृषित प्राण शीतल हो जायेंगे। संसार व्यास की वाणी के नये रूप का दर्शन करेगा।

●

चौथा दृश्य

स्थान : ब्रह्मनदी सरस्वती के तट पर व्यास का आश्रम।

समय : प्रातःकाल।

[अपने उटज के प्रांगण में स्थित विशाल वट-वृक्ष के नीचे एक शिला पर व्याघ्र-चर्म बिछा है, जिसपर वेदव्यास आसीन हैं। उनके सामने, नीचे मृगचर्म बिछाये, दिगम्बर वेश में शुकदेवजी बैठे हैं। श्रीशुकदेव मुनि भगवान् व्यासदेव से भागवत पढ़ रहे हैं। कुछ और ऋषिगण बैठे हुए सुन रहे हैं।]

वेदव्यास : (**शुकदेव से**) वत्स, भक्तियोग के द्वारा मैंने अपने मन को पूर्णतया समाहित कर आदिपुरुष परमात्मा और उनकी माया का साक्षात्कार किया है। इसी माया से मोहित होकर यह जीव त्रिगुणातीत होते हुए भी जन्म-मरण आदि अनर्थों को निरन्तर भोगता है।

इन अनर्थों की शान्ति का सर्वोत्कृष्ट साधन है—एकमात्र भगवान् की भक्ति। परन्तु, सांसारिक जन यह नहीं जानते। यही समझकर मैंने परमहंसों की संहिता श्रीमद्भागवत की रचना की है, जिसके श्रवण-मात्र से भगवान् के चरणों में परम प्रेममयी हेतु-रहित भक्ति उत्पन्न होती है और जीव के अज्ञान की गाँठ खुल जाती है। तुम नितान्त निवृत्तिपरायण हो और जन्म से ही तुममें भगवद्भक्ति का निवास है, इसलिए मैंने तुम्हें इस विशाल ग्रन्थ का अध्ययन कराया है। तुम्हीं इस ग्रन्थ के गूढ रहस्यों को प्रकाशित करने के अधिकारी हो। इसके द्वारा अधिकाधिक लोक-कल्याण करो।

शुकदेव : जो आज्ञा, तात !

वेदव्यास : इसमें गोपियों के जिस निर्मल निर्विकार प्रेम की चर्चा की गई है, उसे समझने-समझाने की पात्रता तुम्हारे-जैसे बाल ब्रह्मचारी और परमहंस में ही है, वत्स ! श्रीमद्भागवत के आदि आचार्य के रूप में तुम अक्षय कीर्त्ति प्राप्त करोगे।

शुकदेव : आपकी यह रचना अनुपम है, पिताजी ! त्रिकालाबाधित परम सत्य का ऐसा सरस और मधुर रूप भला और किसने प्रतिष्ठित किया है ? इसमें कैतवरहित चरम परम धर्म का विशद निरूपण है, मत्सरहीन साधुजन ही उसको समझने के अधिकारी हो सकते हैं।

वेदव्यास : संसार में इसका प्रचार और प्रसार तो तुम्हारे ही द्वारा होना है, तात !

शुकदेव : आपके प्रसाद से वह तो होगा ही पिताजी ! परन्तु, काव्य में परम सत्य को प्रतिष्ठित कर तथा परम सत्य को रसात्मक अभिव्यक्ति प्रदान कर आपने काव्य की जो परम्परा चलाई है, वह युग-युग तक सारे संसार के कवियों का पथ-प्रदर्शन करेगी।

वेदव्यास : वत्स, आर्ष काव्य की यह परम्परा आदिकवि महर्षि वाल्मीकि ने चलाई है। मैंने तो उन्हीं का अनुगमन किया है। किन्तु, इस आर्ष काव्य के लिए तुम्हारे जैसे साधन-सम्पन्न व्याख्याताओं की निरन्तर अपेक्षा रहेगी, अन्यथा अल्पज्ञ सांसारिक जन इसके तत्त्व को अधिगत नहीं कर सकेंगे।

शुकदेव : आप सत्यसंकल्प हैं, पिताजी! असत् के ध्वान्त को विध्वंस करने के लिए आपकी यह वाणी करोड़ों सूर्यों के समान प्रकाशमान रहेगी। सुनिए, ऋषि-मुनियों की संसदों में चतुर्दिक् उसका अभिनन्दन हो रहा है।

[व्यास और शुकदेव नेत्र निमीलित कर ध्यानस्थ हो जाते हैं। अनेक उदात्त कण्ठों का समवेत स्वर वायुमण्डल में गूँजने लगता है।]

जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्
तेने ब्रह्महृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत्सूरयः।
तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गोऽमृषा
धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि॥
धर्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र परमो निर्मत्सराणां सतां
वेद्यं वास्तवमत्र वस्तु शिवदं तापत्रयोन्मूलनम्।
श्रीमद्भागवते महामुनिकृते किंवा परैरीश्वरः
सद्यो हृद्यवरुध्यतेऽत्र कृतिभिः शुश्रूषुभिस्तत्क्षणात्॥

(पटाक्षेप)

६. अग्नि-परीक्षा

पात्र-परिचय

रावण : प्रसिद्ध लंकाधिपति दानवेन्द्र
मन्दोदरी : रावण की पत्नी
विभीषण : रावण का अनुज, प्रसिद्ध रामभक्त
राम : प्रसिद्ध मर्यादापुरुषोत्तम, दाशरथि
लक्ष्मण : राम के प्राणतुल्य अनुज
सीता : राम की पत्नी जगज्जननी जानकी
हनुमान् : प्रसिद्ध रामभक्त, बजरंग बली
सरमा : विभीषण की पत्नी
कला : विभीषण की पुत्री
त्रिजटा : सीता की संरक्षिका ममतामयी राक्षसी

जाम्बवान; सुग्रीव; अंगद; नल; नील; अन्यान्य राक्षसियाँ; पृथ्वी; अग्निदेव आदि।

प्रथम दृश्य

समय : दिन का तीसरा प्रहर।

स्थान : लंका का युद्धक्षेत्र।

[कुछ ही समय पूर्व युद्ध समाप्त हुआ है। विशाल रणभूमि असंख्य आहत एवं मृत वानरों, भालुओं एवं राक्षसों से पटी पड़ी है। रक्त के प्रवाह में वीरों और वाहनों के कटे हुए हाथ-पैर एवं आयुध बह रहे हैं! काकों, चीलों, गृद्धों और शृगालों के झुण्ड-के-झुण्ड लाशों पर टूट रहे हैं; कोई नेत्र निकालकर भागता है, कोई अंतड़ियाँ नोच-नोचकर खा रहा है। कोई रक्त पीकर तृप्त हो रहा है। युद्धभूमि के मध्य भगवान् राम के बाणों से आहत होकर रावण मुमूर्षु अवस्था में पड़ा है। उसके आसपास उसके सैकड़ों शिर और बाहु भगवान् राम के बाणों से विद्ध पड़े हैं, मानों सूर्य की किरणों ने राहुओं की सेना को वेध डाला है। पट्टमहिषी मन्दोदरी रावण का शिर अपनी जंघा पर रखे हुए विलाप कर रही हैं। वे विलाप करती हुई रावण की अनेकानेक पत्नियों और दास-दासियों से घिरी हैं। रावण के चरणों को अपनी गोद में लिये हुए अवनतमुख विषण्णवदन विभीषण बैठे हैं।]

मन्दोदरी : शौर्य का मूर्त्तिमान् विग्रह जा रहा है; सूर्य धरती पर पड़ा है, चन्द्रमा अँधेरे में डूब गया है। आकाश से भी उन्नत आपके वे शिर, जो ग्रहों और नक्षत्रों के आतपत्र से सेवित रहते थे, आज जम्बुकों द्वारा ठुकराये जा रहे हैं। हाय! आँखें खोलो स्वामी!

रावण : (धीरे से आँखें खोलकर) मन्दोदरी! ......धैर्य......धारण...... करो......राजराजेश्वरी!

मन्दोदरी : (रोती हुई) नाथ! वरुण, यम, कुवेर, विवस्वान् एवं उनचासों मरुत् मिलकर भी जिसके समक्ष युद्ध में खड़े होने का साहस नहीं करते थे......।

रावण : (आँखें खोलकर) ठीक कह रही हो, मन्दोदरी। स्वयं इन्द्र जिसके पाद-पीठ की अर्चना किया करता था, वही रावण आज अपदार्थ की तरह इस युद्धभूमि में पड़ा है। **(पीड़ा से आँखें मूँद लेता है।)**

मन्दोदरी : कमलासन ब्रह्मा जिसकी सभा में प्रतिदिन वेदपाठ करने आते थे, जिसका भ्रू-भंग देखकर अग्नि भय से शीतल हो जाता था......।

रावण : **(पुनः आँखें खोलकर, आकाश की ओर देखकर)** लंकेश्वरी, जिस रावण को क्रुद्ध देखकर मेघ अंगारे बरसाने लगते थे, उत्तुंग तरंगाकुल सागर अंगुलि-निर्देश-मात्र से छोटे सरोवर की तरह शान्त हो जाता था, उसी को आहत एवं भू-पतित देखकर ये देवता कितना आनन्द मना रहे हैं। **(आकाश से जयजयकार का शब्द सुनाई पड़ता है।)**

मन्दोदरी : हाँ, नाथ ! ये देवता ही हैं, जो राम की जय बोल रहे हैं।

रावण : **(ध्यान से सुनता है)** बड़े कायर हैं ये देवता। काल को अब भी मेरे पास आने में भय लगता है। यदि राम के बाण का अवलम्ब न मिलता, तो वह मेरी ओर आँख उठाकर देख भी नहीं सकता था। **(आँखें खोल कर चारों ओर देखता है।)** क्या ये मेरे शिर और बाहु हैं ?

मन्दोदरी : हाँ, देव ! दिग्दन्तियों के दन्तोत्पाटन में समर्थ आपके प्रतापी बाहु आज गीधों के क्रीडनक बने हुए हैं। आकाश से भी उन्नत आपके वे शिर, जो सूर्य और चन्द्र के आतपत्र से सेवित रहा करते थे, आज जम्बुकों द्वारा ठुकराये जा रहे हैं। हाय !

रावण : **(धीरे से आँखें खोलता हुआ)** मन्दोदरी !......धैर्य धारण करो। काल को मैंने बन्दीगृह में डाल रखा था, पर मैंने प्रमादवश........वैसा नहीं किया। **(आँखें मूँद लेता है)**

विभीषण : (रावण के चरणों पर शिर रखते हुए) भाई, अपराध क्षमा हो। काल जिनकी इच्छा से मर सकता है, आपने उन्हीं राम से अकारण वैर ठान लिया!

रावण : (आँखें खोलकर) तुम कौन, विभीषण ?

विभीषण : (रावण के चरणों पर शिर टेककर) हाँ, मैं ही हूँ भाई ! अन्तिम दर्शन करने और क्षमा माँगने आया हूँ। (आँसुओं से रावण के चरण सिक्त हो जाते हैं।)

रावण : तुम्हारे आने से मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई, विभीषण ! अब मेरे मन में तुम्हारे प्रति किसी प्रकार का क्षोभ या रोष नहीं है। तुमने उच्चतर धर्म का पालन किया है; मैंने भी वीर-धर्म का पालन करते हुए वीरगति पाई है। वीर का तर्पण आँसुओं से नहीं होना चाहिए।

मन्दोदरी : नाथ, विभीषण ने और मैंने आपको कितना समझाया, सीता को लौटा देने का कितना आग्रह किया। माल्यवन्त जैसे वृद्ध और विवेकी मन्त्रियों ने भी आपको इस अधर्म से विरत करने का प्रयत्न किया, परन्तु आपने किसी की भी नहीं सुनी।

रावण : ठीक ही कहती हो, मन्दोदरी ! मैंने किसी की नहीं सुनी। मुझे अपनी अपराजेयता का अहंकार था। दिक्पालों का मद चूर्ण करनेवाला रावण एक वनवासी राजकुमार राम की शक्ति को क्या समझता। परन्तु......।

मन्दोदरी : परन्तु क्या नाथ ?

रावण : मन्दोदरी ! मेरा अनुमान है कि राम की शक्ति का अधिष्ठान सीता ही है, वे पुण्यतमा परमाशक्ति हैं।

मन्दोदरी : यह अनुभव आपको कैसे हुआ ?

रावण : देवी मन्दोदरी ! जीवन के इन अन्तिम क्षणों में स्मृति अत्यन्त निर्मल और सतेज है, एक-एक पूर्व-घटित घटना सजीव होकर

सामने आ रही है। सुनो, जब मैंने सीता का हरण करने के लिए उन्हें पकड़ा था, तब मुझे लगा कि मैंने प्रज्वलित अग्निशिखा को पकड़ लिया है। फिर भी.......।

मन्दोदरी : फिर भी आप उस अधर्म से विरत नहीं हुए ?

रावण : हाँ, मन्दोदरी ! फिर भी मैंने अपना निश्चय नहीं छोड़ा। प्रत्येक प्रकार के विरोध-प्रतिरोध को पददलित कर देना रावण का स्वभाव था। एक अबला के प्रतिरोध से मेरे अहंकार का दव और भी प्रदीप्त हो उठा। मैंने ज्वलन्त अनल-शिखा-सी सीता को बलपूर्वक पकड़कर अपने आकाशचारी रथ में डाल दिया।

मन्दोदरी : फिर ?

रावण : मैंने सीता को उठाकर रथ में डाल तो लिया, पर अपनी जिन भुजाओं पर मैंने शम्भु-समेत कैलास को लीला-कमल की तरह उठा लिया था, वे ही सीता को उठाने में थक गईं। मैंने अनुभव किया, मानों मेरी अपराजेय शक्ति का अक्षय स्रोत सूख गया है।

मन्दोदरी : यह अनुभव आपको कैसे हुआ ?

रावण : मन्दोदरी ! सीता की पुकार पर अति जरठ जटायु गृद्ध ने मुझपर आक्रमण किया। उसने अपने भीषण नख-चंचु-प्रहार से मुझे मूर्च्छित कर दिया। बड़ी कठिनाई से मैं अपने शिव-प्रदत्त कृपाण से उसे जीत पाया। अपनी शक्तिहीनता का वह पहला अनुभव मुझे हुआ था।

विभीषण : फिर भी आपने हमलोगों के अनुरोध पर ध्यान नहीं दिया।

रावण : अहंकार विवेक का सबसे बड़ा शत्रु है, विभीषण ! प्रबुद्ध विवेक के बिना राजशक्ति अन्ध और वधिर हो जाती है, उसे केवल चाटुकारिता ही प्रिय लगती है। मुझे इसका अनुभव हो रहा है। मेरे वन्दीजन........

[लक्ष्मण का प्रवेश। शिर पर जटा, पूर्ण चन्द्र जैसा तेजोदीप्त मुखमण्डल, आयताकार अरुण नेत्र, प्रशस्त पीन वक्ष:स्थल, आजानु-विलम्बित भुजाएँ, तप्त स्वर्ण जैसा वर्ण, मत्त मृगेन्द्र जैसी चाल, हाथ में धनुष, पीठ पर तूणीर कसा हुआ। विभीषण के पीछे कुछ हटकर खड़े होते हैं। विभीषण उठना चाहते हैं, पर वे संकेत से रोक देते हैं, जिससे रावण अपनी बात पूरी कर सके।]

रावण : …मेरी यौवनश्री को सुरांगनाप्रार्थित कहकर अभिनन्दन करते थे। देव, दानव, यक्ष किन्नर, नाग आदि सब कुलों की कितनी ही राजकुमारियों का मैंने वरण किया और सबने मुझे पाकर अपना जीवन कृतकृत्य माना। पर यह मानवी सीता.........

मन्दोदरी : हाँ, नाथ! मानवी सीता ने कभी आँख उठाकर भी आपकी ओर नहीं देखा।

रावण : मानवी सीता ने मेरे गर्व को खर्व कर दिया, मन्दोदरी! उसका हृदय जीतने के लिए मैंने क्या नहीं किया। साम, दाम, दण्ड, भेद, छल-कपट, मन्त्रबल, आसुरी माया आदि सब प्रयोग मैंने किये और सब व्यर्थ हो गये। मैं तो नारी के केवल कामिनी-रूप से ही परिचित था, उसके इस अपराजेय रूप का साक्षात्कार तो मैंने मानवी सीता को देखकर ही किया। नारी इतनी निष्कलुष, इतनी पवित्र हो सकती है, इसका अनुभव मुझे सीता को देखकर ही हुआ।

मन्दोदरी : यथार्थ है नाथ! सीता को पाकर राम धन्य हुए, लंका की यह भूमि भी उसके चरण-स्पर्श से पवित्र हो गई है।

रावण : एक बात और सुनो। यह मैंने तुमसे कभी नहीं कहा। एक बार मैं राम का रूप धारण कर सीता को छलने के लिए चला। वह रूप धारण करते ही मेरी चित्तवृत्ति परिवर्त्तित हो गई, मुझे चतुर्दिक् अपनी माता के दर्शन होने लगे। सत्त्वगुण का ऐसा उद्रेक मेरे अन्तःकरण में हुआ कि मेरा तमोगुणी स्वभाव उसे सहन न कर

सका। मैंने वह रूप छोड़ दिया। उस दिन जब मैं पूजार्थ शिव-मन्दिर में गया, तब भगवान् ने मेरी पूजा स्वीकार नहीं की। उनकी भृकुटियों में रोषपूर्ण भंगिमा थी, जगज्जननी पार्वती के नेत्रों में भी करुणा के स्थान पर विराग था।

मन्दोदरी : अपने इष्टदेव को असन्तुष्ट देखकर भी आपका विचार नहीं बदला ?

रावण : मुझे तो अपने इष्टदेव पर क्रोध आया। मन्दोदरी, मैंने यह निश्चय किया कि यदि ये भी सीता को लौटा देने का आग्रह करेंगे, तो मैं इनसे लड़ूँगा।

मन्दोदरी : भयानक ! भगवान शंकर के प्रति ऐसी विद्रोह-भावना !! ओह, मुझे लगता था, लंकादहन उन्हीं के रुष्ट हो जाने से हुआ है।

विभीषण : भैया, लंकादहन करनेवाले हनुमान् तो ग्यारहवें रुद्र के अवतार हैं ही।

रावण : जिस आग में लंका जली, वह वही थी, जिसका दर्शन मैं प्रतिदिन सीता के व्यक्तित्व के प्रभामण्डल में करता था। मैंने संवर्त्तक मेघों को वह आग बुझाने का आदेश दिया था, पर उनके द्वारा बरसाया हुआ जल उस आग के लिए घृत बन जाता था। **(बोलते-बोलते थककर आँखें मूँदकर मौन हो जाता है।)**

विभीषण : (खड़े होकर) भैया, कोशलपति राघवेन्द्र राम के अनुज लक्ष्मण आपसे भेंट करने पधारे हैं।

लक्ष्मण : मैं चक्रवर्त्ती दशरथ का पुत्र, राघवेन्द्र राम का अनुज लक्ष्मण आपको प्रणाम करता हूँ, लंकेश्वर !

रावण : **(ससम्भ्रम आँखें खोलकर)** रामानुज लक्ष्मण ! मेघानादजयी लक्ष्मण ! स्वागत है आपका। इस युद्धभूमि में मेरे इहलौकिक जीवन के अन्तिम क्षणों में आप किस उद्देश्य से पधारे हैं ? मैं क्या सेवा कर सकता हूँ ?

लक्ष्मण : आपने दीर्घकाल तक त्रैलोक्य का शासन किया है। पूज्य अग्रज ने मुझे आपसे राजनीति की शिक्षा प्राप्त करने के लिए भेजा है।

रावण : रामानुज, यह आपके अग्रज की उदारता है। उन्होंने मुझे आदर दिया है। किन्तु, अब मेरी वाक्शक्ति क्षीण होती जा रही हैं, मैं अधिक बोल नहीं सकता। थोड़े में अपने शासकीय जीवन के अनुभव का सार कहता हूँ।

लक्ष्मण : इस कृपा के लिए अनुगृहीत हूँ, लंकेश्वर !

रावण : शासकवर्ग को विलासिता से दूर रहना चाहिए। प्रशासकाय केन्द्रों से विलासिता का उन्मूलन करना राजनीतिक सुख-शान्ति और सुरक्षा के लिए अनिवार्य है। यदि शासकवर्ग विलासी बन गया और राजधानियाँ विलासिता के केन्द्र बनीं, तो पतन अनिवार्य है। लंका का और मेरा पतन विलासिता के अतिरेक के कारण हुआ।

लक्ष्मण : चिरस्मरणीय है आपका यह निर्देश।

रावण : विलासी शासकवर्ग प्रमादी, अहंकारी एवं अदृढनिश्चय होता है। राजा को प्रमादी राजपुरुषों को किसी प्रकार का उत्तरदायित्व नहीं सौंपना चाहिए। प्रमाद और अहंकार राजशक्ति को भीतर से खोखला कर देते हैं। इसलिए, सदाचारी पुरुषों को राजशक्ति के संचालन के कार्य में नियुक्त करना चाहिए।

लक्ष्मण : अनुगृहीत हूँ, लंकेश्वर !

रावण : शासक को प्रजावर्ग को सदाचारी एवं संयमी बनाने का सतत प्रयत्न करना चाहिए। सदाचारी प्रजा ही राजशक्ति का दृढ आधार बन सकती है। केवल भौतिक समृद्धि से राष्ट्र किंवा राजशक्ति दीर्घकाल तक सुरक्षित नहीं रह सकती। मैंने इस सत्य का महत्त्व नहीं समझा, इसलिए मेरी यह दशा हुई। (हाँफता है)

लक्ष्मण : आपको बोलने में कष्ट हो रहा है, लंकेश्वर !

रावण : हाँ, रामानुज, अधिक बोल नहीं पाऊँगा। अपने अग्रज से एक बात और कह देना। शासकों का सबसे बड़ा शत्रु होता है चाटु-

कारों का वर्ग। राजपुरुषों को इनसे बचना चाहिए। लक्ष्मण! आपके अग्रज से मैंने यह सीखा है कि विपक्ष की शक्ति चाहे जितनी बड़ी हो, पर विजय उसी को मिलती है, जिसके पक्ष में धर्म होता है। इसलिए राजसत्ता को धर्ममूलक होना चाहिए, अब मेरी ऐसी धारणा है। **(थककर आँखें मूँद लेता है।)**

लक्ष्मण : अब आप कष्ट न करें, लंकेश्वर!

रावण : एक बात आपसे और कहनी है। मेरे बाद जब विभीषण का राजतिलक करें, तो मन्दोदरी को ही प्रधान राजमहिषी का पद प्रदान करें। जिस प्रकार बालि की मृत्यु के पश्चात् तारा सुग्रीव की पटरानी हुई, उसी प्रकार मन्दोदरी विभीषण की पटरानी बनेगी। इस देश की परम्परा में यह विहित है।

लक्ष्मण : आपकी इच्छा पूर्ण होगी, लंकेश्वर! **(लक्ष्मण प्रणाम करके चले जाते हैं।)**

द्वितीय दृश्य

[लंका के समरांगण में भगवान् राम का शिविर। भगवान् राम एक शिला पर समासीन हैं। सामने चरणों के पास लक्ष्मण और हनुमान् बैठे हैं। दोनों की मुद्रा अत्यन्त गम्भीर है।]

राम : लक्ष्मण! रावण ने सीता के विषय में जो कुछ कहा है, वह यथार्थ है। फिर भी सीता को अग्नि-परीक्षा देनी ही होगी।

लक्ष्मण : **(विकल होकर, राम के चरण पकड़कर)** स्वामिन्, मैं आपका दासानुदास हूँ। मेरा यह विश्वास रहा है कि आप जो कुछ कहते हैं, सो करते हैं, उसमें धर्म का सारतत्त्व निहित है। फिर भी, भगवती की अग्नि-परीक्षा का औचित्य मेरी समझ में किसी भी प्रकार नहीं आता।

राम : लक्ष्मण, तुम यह तो जानते हो कि मेरे वनवास और लंका पर अभियान का एक महत्तर उद्देश्य भी है।

लक्ष्मण : अच्छी तरह से जानता हूँ, प्रभु ! आप अनावृतचरण दुर्गम पर्वतों, अरण्यों और समुद्रों तक को पार करते हुए समाज, सम्प्रदाय, देश एवं काल-निरपेक्ष सार्वभौम मानव-संस्कृति और धर्म की प्रतिष्ठा कर रहे हैं।

राम : हनुमान्, इस सम्बन्ध में तुम्हारा क्या अभिमत है ? मेरे लक्ष्य की प्राप्ति में तुम्हारा योगदान सबसे महान् है।

हनुमान् : (हाथ जोड़कर) ऐसा न कहें, स्वामी ! हनुमान् सेवा के अतिरिक्त और कुछ नहीं जानता। हाँ, इतना समझता हूँ कि तातचरण सौमित्र ने जो कुछ कहा है, वह सत्य है। वानर, ऋक्ष और रजनीचरों जैसी असभ्य जातियाँ आपके सम्पर्क-मात्र से उच्चाति-उच्च संस्कारों में दीक्षित होकर आर्यत्व प्राप्त करती जा रही हैं। आपके दर्शन-मात्र से देवत्व सुलभ हो जाता है, जीवन के समस्त ताप-त्रास दूर हो जाते हैं।

राम : प्रत्येक मानव अपरिमित दैवी सम्पत्ति का अधिष्ठान है। इन अन्तर्निहित शक्तियों के पूर्ण विकास का ही नाम है—आर्यत्व अथवा देवत्व। हमारे ऋषियों ने इसी धर्म और संस्कृति के प्रचार और प्रसार को विश्व को आर्यत्व प्रदान करना कहा है। मैं भी उसी मार्ग पर चल रहा हूँ।

हनुमान् : जानता हूँ, स्वामी ! अगस्त्य ने इस धर्म के प्रचार के लिए कितने कष्ट सहे हैं। उनके कितने शिष्यों और सहयोगियों का निशाचरों ने अकारण ही वध कर डाला है।

राम : लक्ष्मण, तुम अत्रि की पत्नी अनसूया को जानते हो ? तुमने भी उनके विषय में सुना होगा, हनुमान् !

हनुमान् : मैंने उनके दर्शन भी किये हैं, प्रभु ! वे ही महर्षि अत्रि की महाशक्ति हैं।

राम : तब तो तुम यह भी जानते होगे, वे ही महर्षि के धर्म-प्रचार की सबसे बड़ी सहयोगिनी हैं। दक्षिण की, श्वापदों से भी अधिक भयंकर और क्रूर जातियों में सती-धर्म की प्रतिष्ठा का काम वे ही कर रही हैं; क्योंकि सतीत्व ही संस्कृति और धर्म के विकास का मूलाधार है।

लक्ष्मण : स्वामी, अगस्त्य के साथ रहकर अनसूया देवी ने जो कुछ किया है, उससे अधिक आपके साथ रहकर जननी मैथिली कर रही हैं। आप उन्हीं की अग्नि-परीक्षा लेना चाहते हैं ?

राम : तात ! तुम जानते हो, सीता का और मेरा जीवनोद्देश्य एक ही है। सीता की अग्नि-परीक्षा उस उद्देश्य की सिद्धि में सहायक सिद्ध होगी।

लक्ष्मण : प्रभु, मैं जानता हूँ कि जननी जानकी और आप अभिन्न हैं। यह भी जानता हूँ कि आप मर्यादापुरुषोत्तम हैं, फिर भी आपके, अग्नि-परीक्षा के प्रस्ताव का अनुमोदन नहीं कर पाता। मैं तो समझता हूँ कि सीता जैसी सती को अग्नि-परीक्षा देने के लिए बाध्य करना अपने-आप में ही धर्म-मर्यादा का उल्लंघन है। इस सृष्टि का एक-एक अणु-परमाणु भगवती की पवित्रता का साक्षी है।

राम : तुम्हारी भावना को मैं समझता हूँ, लक्ष्मण ! परन्तु धर्म का मार्ग कठोर होता है।

लक्ष्मण : स्वामी, यह कठोरता आपकी कीर्त्ति के पूर्णचन्द्र के लिए अमार्ज्य कलंक बन जायगी। सीता जैसी महासती के साथ आपका यह व्यवहार युग-युग तक अक्षम्य माना जायगा। इसलिए, आप अपना यह निर्णय त्याग दें, प्रभु ! (चरणों पर गिरते हैं) उद्देश्य कितना भी महान् हो, इस कठोरता की तुलना में वह नगण्य हो जायगा।

हनुमान् : मेरा भी यही निवेदन है, प्रभु !

राम : (लक्ष्मण को उठाकर हृदय से लगाते हुए) धैर्य धारण करो तात ! सीता की अग्नि-परीक्षा के संकल्प से विचलित होने की आवश्यकता नहीं। क्या तुम्हें अपने अग्रज के विवेक और चरित्र-बल पर सन्देह हो गया है ?

लक्ष्मण : शान्तं पापम् !! यह कैसे सम्भव है, प्रभु ?

राम : लक्ष्मण ! तुम सीता के प्रति मेरे अनुराग का कुछ अनुमान कर सकते हो। घनश्याम में विद्युत् की भाँति सीता मेरे अन्तरतम में सतत विद्यमान रहती है।

लक्ष्मण : सारा संसार जानता है, प्रभु के नेत्र स्वप्न में भी परनारी की ओर नहीं उठे। ऐसे पवित्र हृदय में भगवती के प्रति प्रेम का जो महा-सागर भरा है, उसकी ऊर्मिमाला के दर्शन मुझे प्रभु के विरह-काल में होता रहा है। यह भी जानता हूँ कि आर्यों में वहुपत्नीत्व की जो कुप्रथा चल पड़ी थी, प्रभु ने उसे मिटाने के लिए एकपत्नीत्व की उदात्त परम्परा का प्रवर्त्तन किया है। यह भी जगज्जननी के प्रति प्रभु के अनन्य प्रेम का प्रमाण है।

राम : लक्ष्मण, फिर भी तुम कहते हो कि लोक अग्नि-परीक्षा का उद्देश्य न समझकर सीता के प्रति कठोर व्यवहार के लिए मुझे लांछित करेगा।

लक्ष्मण : सत्य है, प्रभु ! लोक आपके उद्देश्य को नहीं समझेगा। वह तो केवल अग्नि-परीक्षा की इस घटना को प्रत्येक युग में नारी पर पुरुष के क्रूर व्यवहार और अत्याचार के प्रमाण के रूप में स्मरण करेगा।

राम : मेरा समस्त जीवन लोकाराधन के लिए अर्पित है, लक्ष्मण ! मैं जानकी को, तुमको तथा अपने-आपको भी लोक-संग्रह की वेदी पर वलि कर सकता हूँ। क्या वही लोक मेरे साथ ऐसा अन्याय करेगा ?

हनुमान् : स्वामी, लोक की मेधा और स्मृति दोनों ही अत्यन्त अल्प और सीमित होती है। महज्जनों के महत् उद्देश्यों को समझ लेना लोक के लिए प्रायः सहज नहीं होता।

लक्ष्मण : प्रभु, मैं ही आपकी अग्नि-परीक्षा के वास्तविक अभिप्राय को अब-तक नहीं समझ पाया हूँ। लोकमानस में युग-युग तक इस घटना की उचित क्रिया-प्रतिक्रिया ही होगी, यह कैसे कहा जा सकता है ?

हनुमान् : तातचरण ठीक कहते हैं। हमलोग स्वयं अबतक इसका उद्देश्य नहीं समझे हैं।

राम : आश्चर्य है, तुम लोग मेरा उद्देश्य नहीं समझे। लक्ष्मण, किष्किन्धा में तुमने सुग्रीव का राज्याभिषेक किया और बालि की पत्नी तारा उसकी पटरानी बनी। लंका में विभीषण का अभिषेक तुम्हारे ही हाथों होगा। तुम कहते थे, रावण की यह इच्छा थी कि मन्दोदरी ही विभीषण की पटरानी हो।

लक्ष्मण : सत्य है, प्रभु !

राम : सुनो लक्ष्मण ! आर्यनारी तारा और मन्दोदरी से भिन्न शीलवाली होती है, इसे प्रमाणित करने के लिए सीता को अग्नि-परीक्षा देनी ही होगी। लंका भोगवादी यान्त्रिक आसुरी सभ्यता का केन्द्र रही है। स्वच्छन्द, उन्मुक्त विलास ही इस सभ्यता में नारी के जीवन का उपयोग है। ऐसे परिवेश में नारी के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास सम्भव नहीं। भोगपरायण स्वार्थी पुरुष उसके केवल प्रमदा और कामिनी-रूप की उपासना करके उसे प्रवंचित करते हैं। वह केवल भोग्य बनकर रह जाती है, उसके मातृत्व, भगिनीत्व और पत्नीत्व का अमृत-स्रोत सूख जाता है।

हनुमान् : यथार्थ है, प्रभु ! इन वानर-ऋक्ष और यातुधान-जातियों में नारी को उपभोग का अपरिमित अधिकार प्राप्त है। सतीत्व या संयम

के कुछ संस्कार यहाँ उन्हीं कुलवधुओं ने डाले हैं, जो देवकुल अथवा आर्यकुल से अपहृत होकर आई हैं।

राम : क्या ऐसी नारी सीता की तरह वर्षों तक अनेक प्रकार की यातनाएँ सहती हुई भी अपने चरित्र की मर्यादा सुरक्षित रख सकती हैं ?

हनुमान् : कदापि नहीं प्रभु ! इसीलिए जगदम्बा का चरित्र लंका के समाज के लिए कुतूहल का विषय रहा है।

राम : मारुति, समाज के स्थिति-सम्पादन का मूलाधार है नारी का पवित्र शील, वही समाज की सुव्यवस्था और सुप्रगति का अमोघ साधन है। इसीलिए, नारी के सात्त्विक शील का बहुमुखी पारिवारिक एवं सामाजिक सम्बन्धों के रूप में विकास हमारी संस्कृति में अभीष्ट रहा है। कामिनीत्व भी उसका एक उपादान हो सकता है, पर वह गौण है और उसकी सीमा से प्रत्येक भारतीय नारी परिचित है।

हनुमान् : यह सत्य है, स्वामी !

राम : चरम ऐहिक सभ्यता के अन्धकार में डूबे हुए इस प्रदेश में आर्य नारी के चरित्र के उदात्त आलोक के प्रसार के निमित्त सीता को अग्नि-परीक्षा देनी ही होगी। सीता के परम निष्कलुष शील का साक्षात्कार कर यहाँ की नारियाँ भी उनका यह आदर्श अपनाने का प्रयत्न करेंगी। तभी इन समाजों और राष्ट्रों का कल्याण होगा। लंका-विजय की यही सार्थकता है।

लक्ष्मण : यह सब तो बिना अग्नि-परीक्षा के भी सम्भव है। इसके लिए इतने निर्मम विधान की क्या आवश्यकता है, प्रभु ?

हनुमान् : सुमित्रानन्दन ठीक कहते हैं, स्वामी ! आपका जीवनादर्श तो आपके आगे-आगे सभी समाजों और राष्ट्रों में प्रतिफलित होता चल रहा है। उसकी प्रतिष्ठा के लिए भगवती की अग्नि-परीक्षा का क्या औचित्य हो सकता है, मेरे प्रभु ?

राम : औचित्य है, हनुमान् ! मैं नर और नारी के जिस आदर्श और मर्यादा को प्रतिष्ठित करना चाहता हूँ, उसकी वेदी पर सीता को आत्मत्याग का यह उदाहरण प्रस्तुत करना ही होगा। मैं जाति, वंश, कुल, राष्ट्र-समाज-सम्प्रदाय-निरपेक्ष जिस आदर्श की सम्यक् प्रतिष्ठा करना चाहता हूँ, उसी का नाम आर्यत्व है। यह आर्यत्व मानव-मात्र का सहज स्वकीय धर्म है। इस सत्य की प्रतिष्ठा के लिए ही देवी जानकी ने इतनी यन्त्रणाएँ सही हैं। इसी के लिए उन्हें यह अग्नि-परीक्षा भी देनी होगी........। **(कुछ देर ध्यान-मुद्रा में अवस्थित होकर)** कौन कह सकता है लक्ष्मण, भविष्य में देवी जानकी को, तुमको और मुझे इस अग्नि-परीक्षा से भी अधिक कठोर परीक्षा देनी पड़े।

लक्ष्मण : प्रभु, देवी के लिए अब कौन-सी परीक्षा शेष रह गई है ? शिरीष-सुमन और पाटल-दल से भी अधिक सुकुमार चरणों से उन्होंने शैल-संकुल कण्टकाकीर्ण दुर्गम मार्गों में हजारों योजन आपका अनुगमन किया है। अपने पातिव्रत के अनन्त अपरिमित तेज से उन्होंने कोटि-कोटि चिताओं से भी अधिक दाहक राक्षसेन्द्र की यातना-ज्वाला को विफल कर दिया है। उनकी अग्नि-परीक्षा का विधान स्वयं अग्नि को भी सहन नहीं होगा, स्वामी ! आप और हम कठोर-से-कठोर परीक्षाएँ देते रहेंगे, पर भगवती...........नहीं, नहीं, स्वामी !

राम : मेरे उद्देश्य को समझने का प्रयत्न करो, लक्ष्मण ! लोक-कल्याण के लिए, धर्म के लिए मैं इससे भी कठोर कर्म करूँगा। लंका की विजय मानवता की जय-यात्रा बने, इसके लिए जलती हुई अग्नि में प्रवेश कर सीता को अपनी पवित्रता का प्रमाण लोक को देना ही होगा। इसकी सारी व्यवस्था तुमको करनी होगी।

लक्ष्मण : प्रभु। मुझे...... । ओ........ ।

राम : भीरु मत बनो लक्ष्मण ! इस कठोर कर्म द्वारा तुम्हें मेरे कलंकित होने की आशंका है । हो सकता है, आनेवाले युग मेरे उद्देश्य को न समझकर मुझे क्रूरकर्मा ही कहें, पर सीता तो शील और पावित्र्य का चरम प्रतिमान बन ही जायगी । राम भले ही सदोष माने जायँ, पर सीता का चरित्र कोटि-कोटि गंगाओं से भी अधिक लोक-पावन बन जायगा ।

लक्ष्मण : देव ! इस निर्मम विधान में भी भगवती के प्रति आपका अनुराग व्यक्त हो रहा है । आपके विधान का रहस्य समझ सकना कठिन है ।

राम : मारुति ! तुम आदरपूर्वक देवी मैथिली को लंका से ले आओ । विभीषण तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे होंगे ।

हनुमान् : जो आज्ञा प्रभु ! समस्त वानर-सेना भी जगदम्बा के दर्शन पाने के लिए आकुल है ।

राम : देवी मैथिली को यह बता देना ।

तृतीय दृश्य

[**स्थान :** अशोक वन । सुवर्ण जैसे दीप्तिमान् शिंशपा-वृक्ष के नीचे निर्मित वेदिका पर देवी मैथिली अत्यन्त प्रशान्त मुद्रा में विद्यमान हैं । उनके दाहिनी और बाईं ओर विभीषण की पत्नी सरमा और पुत्री कला खड़ी है । वेदिका के नीचे बहुत-सी राक्षसियाँ हाथ जोड़े हुए भयभीत एवं त्रस्त बैठी हुई हैं । इनके लिए देवी सीता का दाहिना हाथ अभय मुद्रा में उठा हुआ है ।

सरमा : परमेश्वरी ! यह अशोक-उपवन जो आपके निःश्वासों से स्तब्ध-दग्ध दिखाई देता था, आज कितना प्रसन्न दिखाई दे रहा है ! मयूरों की केका में कितना आमोद है, आपकी वेदना की अनुभूति से मूक बनी हुई कोकिलाएँ भी आज कितनी वावदूक हो गई हैं !

चातकियों की विरह-व्यथा का भी मानों अवसान हो गया है। आकाश से देव और देवांगनाओं के साथ-साथ इस उपवन के लता-द्रुम भी आपके अभिनन्दन में निरन्तर पुष्प-वृष्टि कर रहे हैं। दिशाएँ प्रसन्न हैं, चराचर जगत् को आह्लादिनी का चरम प्रसाद मिला है। आप उठकर स्नान करें और दशवदन-निधन-कारी भगवान् राघवेन्द्र के दर्शन के लिए तैयार हों।

कला : राजराजेश्वरी ! आप मेरी माता की प्रार्थना स्वीकार करें और हमलोगों को प्रसाधन-सेवा का अवसर दें। मेरे पिता आपके दर्शनार्थ आ ही रहे होंगे। वे आपको समारोहपूर्वक भगवान् कोशलेन्द्र के पास ले जायेंगे।

सीता : **(दोनों को खींचकर हृदय से लगाते हुए)** सखी सरमा ! तुम्हारे उपकारों का मैं क्या बदला दे सकती हूँ ? अशोक-उपवन की इस काल के लिए भी दुर्गम कारा में तुमने प्रियतम के दर्शन की आशा बँधाकर अनेक बार देह का बाँध तोड़कर जाते हुए प्राणों को रोक रखा है। अनेक जन्मों में भी तुम्हारे ऋण से उऋण नहीं हो सकती।

सरमा : देवी ! यह कहकर आप हमें लज्जित न करें। यदि सचमुच आप मुझपर प्रसन्न हैं, तो मुझे यह वर दें कि मैं कोटि-कोटि जन्मों तक आपके चरणों की किंकरी बनी रहूँ।

सीता : आचन्द्रदिवाकर सौभाग्यवती और लंका की सम्राज्ञी बनकर रहो। मेरे हृदय के अनन्त मंगलमय भावोच्छ्वास इस अवसर पर तुम्हें अभिषिक्त कर रहे हैं। और यह बेटी कला......। **(प्रगाढता से हृदय से लगाती है और शिर पर हाथ फेरती है।)**

कला : मैं तुम्हारी क्या सेवा कर पाई, सर्वेश्वरी !

सीता : बेटी ! तुमने मुझे एक साथ माता का वात्सल्य और पुत्री का स्नेह दिया है। अत्यन्त दुःखी देखकर जब तू अत्यन्त करुण दृष्टि से

मुझे निर्निमेष निहारने लगती थी, तब मुझे अपनी वात्सल्यमयी जननी सुनयना और अनन्त करुणामयी माता कौशल्या का स्मरण हो आता था। कभी मेरे प्रति किये जानेवाले रावण के अतिचार को देखकर तेरे मृगशावकी जैसे भोले नेत्र में रोष-त्वेष की लालिमा झलक उठती थी, तब मुझे वत्स लक्ष्मण की याद आ जाती थी। तू मेरे हृदय से बार-बार लगकर इसे शीतल कर। **(नेत्रों से आँसू झरते हैं।)**

सरमा : इस लड़की ने न मालूम कितनी रातें आपके दुःख से दुःखी रहकर, रो-रोकर बिताई हैं और अपने पिता से निरन्तर आपकी मुक्ति के लिए उद्योग करने का आग्रह किया है।

सीता : यह मैं जानती हूँ, सखी ! और ये वृद्धा त्रिजटा, इनके उपकारों का अशेष भार मुझपर है। इन्हीं की कृपा से मेरे जीवन में प्रियतम के दर्शन का यह योग फिर आया है। माता त्रिजटा ! आशीर्वाद दो ! मेरा प्रत्येक रोम नेत्र बन जाय और मैं असंख्य नेत्रों से आज राघवेन्द्र का दर्शन कर सकूँ।

त्रिजटा : **(हाथ जोड़कर राक्षसियों के बीच से उठ खड़ी होती हैं)** मैं किस योग्य हूँ, सर्वमंगले। **(आँसू गिरने लगते हैं।)**

[विभीषण और हनुमान् का प्रवेश ! विभीषण प्रसन्न हैं और हनुमान् शान्त एवं गम्भीर। दोनों भगवती जानकी के समक्ष प्रणत होते हैं। हनुमान् को देखकर राक्षसियाँ भयभीत हो उठती हैं।]

सीता : **(हनुमान् से)** मंगल हो वत्स ! **(किंचित् संकुचित सरमा को जिज्ञासा की दृष्टि से देखकर, फिर विभीषण से)** स्वागत महाभाग ! लंकेश्वर उत्तरोत्तर कल्याणभागी बनें।

हनुमान् : माता ! रावण-रूपी कण्टक-वन राघवेन्द्र के रोष की दावाग्नि में दग्ध हो गया है। रावण-रूपी गन्धहस्ती राघवेन्द्र के शौर्य के

शार्दूल द्वारा विदलित कर दिया गया है। तीनों लोक ज़िस भय और आतंक के कालानल में दग्ध हो रहे थे, उसे भगवान् राम के अनुग्रह के मेघ ने बुझा दिया है। आपकी विरह-निशा के सुप्रभात का उदय हुआ है, आपके परम पुण्य-अनुष्ठान की सिद्धि की मंगल-वेला आ गई है।

विभीषण : देवी ! लंका आपके चरणों की धूलि धारण कर अयुतायुत तीर्थों से भी अधिक पवित्र हो गई है। इस धरती पर आपके द्वारा संसार का सबसे महान् व्रत सम्पन्न हुआ है। मानवता के इतिहास की यह सबसे गौरवशाली घटना है। आपके अपराधी विश्वप्रपीडक लंकाधिपति आपके निःश्वासों से दग्ध होकर रणभूमि में क्षत-विक्षत शयन कर रहे हैं। आप विश्वजयी राघवेन्द्र के दर्शन के लिए चलें, वे आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं।

हनुमान् : माता ! भगवान् राम के माहात्म्य, उनकी पूजा, उनकी श्रद्धा और उनके मनोरथ को तत्त्व से समग्रतः केवल आप जानती हैं। विभीषण लंकेश्वर का निवेदन यथार्थ है। उन्हीं के आदेश से मैं आपको लेने आया हूँ। आप शीघ्र चलकर नवोदित पूर्ण चन्द्रमा के समान राघवेन्द्र का मुख देखें।

विभीषण : राघवेन्द्र त्रिकूट पर्वत के शिखर पर ऐरावत पर समारूढ इन्द्र के समान शोभित हैं। समरांगण में प्रतापकालीन सूर्य के समान प्रकाशित होनेवाले, प्रमत्त दिग्गजों के हृदय में त्रास उत्पन्न करने वाले रावणजयी राम के पास चलकर आप उन्हें हर्ष प्रदान करें।

सीता : वत्स आंजनेय ! दूत के रूप में तुमने जो वचन मुझे दिये थे, वे पूरे करके ही तुम मेरे पास आये हो। मैं तुम्हें क्या दूँ ? तुम्हारे समक्ष मैं अपने-आप को अतीव अकिंचना अनुभव करती हूँ। अंजना देवी की तरह मैं भी तुम्हें पाकर पुत्रवती हो गई हूँ। भगवान् राघवेन्द्र के नाम और यश की भाँति तुम भी युग-युग अनाथों को सनाथ करते रहो।

हनुमान् : (हाथ जोड़कर) जननी ! मैंने आपसे जो कुछ कहा था, वह सब उसी प्रकार घटित हुआ है । भगवान् राम ने सहस्रों कोटि वानरों और ऋक्षों की सेना लेकर लंका को आक्रान्त कर लिया । इस सेना में ऐसा कोई वानर नहीं, जो बल और पराक्रम में मुझसे कम हो । आपके वियोगजन्य शोक से प्रमत्त बने हुए भगवान् राम के वाणों ने ग्रहों की गति रोक दी और अग्नि, मरुद्गण तथा सूर्य का तेज भी नष्ट कर दिया । आपके लिए ही उन्होंने अपने धनुष की प्रत्यंचा से छूटे हुए बाणसमूहों से आकाश को भर दिया, समस्त पिशाचों और राक्षसों का संहार कर डाला और विश्वजयी रावण को क्षुद्र कीट की तरह धरती पर सुला दिया । आप चलकर उनकी वह विरह-ज्वाला शान्त करें । सुग्रीव की सेना के कोटि-कोटि वीर भी आपके दर्शन के लिए उत्कण्ठित हैं । उन युद्धश्रान्तों को आपकी पुत्रवत्सला दृष्टि का अभिषेक अपेक्षित है ।

विभीषण : (सरमा से) भगवती को सम्राज्ञी के उपयुक्त वेष में राघवेन्द्र के निकट जाना है, उसकी व्यवस्था करो देवी ! मैं शिविका लेकर आता हूँ ।

सरमा : जो आज्ञा ।

सीता : लंकापति ! मेरे स्वामी शत-शत योजन दुर्गम वन-शैल-संकुल भूमि एवं महासमुद्र पैदल पार कर मेरे उद्धार के लिए यहाँ आये हैं, मैं भी पैदल ही चलकर उनके दर्शन करूँगी । शिविका की अपेक्षा मुझे नहीं ।

सरमा : देवी ! आपका यह शरीर प्रायः एक वर्ष के निराहार से अत्यन्त ही कृश हो गया है, अबतक केवल तप ही आपका आहार रहा है । आप पैदल चलने योग्य नहीं रह गई हैं ।

सीता : शिविकारूढ होकर प्रभु के दर्शन के लिए जाने से मेरे व्रत की मर्यादा भंग होगी । मुझे इतना कष्ट और सहन कर लेने दो, सखी !

सरमा : आपके व्रत ने इस धरती को दिव्य चेतना एवं नवीन जीवन-दृष्टि प्रदान की है। लंका की चरम ऐहिक भोगपरायण सभ्यता की अमानिशा का आज अवसान हो गया है, आपका व्रत सुप्रभात बनकर उदित हुआ है। हम सब आपके दर्शन पाकर धन्य हैं।

त्रिजटा : ठीक कहती हैं, देवी ! लंकापति को आपके तप की अग्नि में पहले ही दग्ध हो जाना चाहिए था। वे इतने दिन जीवित रह सके, यही आश्चर्य है।

[हनुमान् त्रिजटा की ओर देखते और पहचानते हैं, फिर कठोर दृष्टि से अन्य राक्षसियों की ओर देखते हैं। राक्षसियाँ भयभीत होकर काँपने लगती हैं और हाथ जोड़कर सीता की ओर कातर दृष्टि से देखती हैं। उनमें से कुछ 'क्षमा करो, रक्षा करो' कहती हुई, दौड़कर सीता के चरणों में गिरती हैं।]

सीता : (**अभयमुद्रा में हाथ उठाकर**) डरो मत, तुम्हें कोई भय नहीं। वत्स हनुमान् ! ये राक्षसियाँ रावण की आज्ञा से ही मुझे कष्ट देती थीं, इनका कोई दोष नहीं। ये तुम्हारे लिए क्षम्य हैं। इन्हीं में त्रिजटा जैसी परम सहृदया भी हैं, जिनके स्नेहपूर्ण आश्वासनों से मैं अपना जीवन धारण कर सकी।

हनुमान् : जैसी आज्ञा, करुणामयी !

सीता : रावण की ये परिचारिकाएँ आपस में तुम्हारे बल और पराक्रम की बराबर चर्चा करती थीं। तुम्हारे द्वारा विध्वंस किया गया रावण का यह प्राणोपम प्रमोदवन और यह चैत्य-प्रासाद देखकर इन्हें तुम्हारा स्मरण-मात्र भयभीत करता रहता था।

त्रिजटा : कपिप्रवर ! हम तो तुम्हारे गर्जन से भी परिचित हो गई थीं। युद्ध में तुम्हारा गर्जन जब ब्रह्माण्डों को क्षुद्र घटों की तरह दरकाता हुआ चतुर्दिक् फैलता था, तब हम भगवती जानकी से कहती थीं कि यह उसी लंका को जलानेवाले वानर-वीर का सिंहनाद है।

सीता : (हनुमान् से) त्रिजटा देवी ठीक कहती हैं। वत्स, तुम्हारे गर्जन से त्रस्त इन राक्षसियों ने अनेक बार मुझसे कहा है कि जब ये कपि-राज विजयी होकर लंका में आवें, तो उस समय इनसे हमारी रक्षा करना। इन्हें अभय करो महावीर !

[राक्षसियाँ जयजयकार करती हैं]

हनुमान् : माता ! आपने जिसे अभय किया, उसके लिए फिर त्रिकाल और त्रिलोक में कोई भय शेष नहीं रहता।

विभीषण : आपकी यह करुणाविभूति है। सृष्टि का परम अवलम्ब है भगवती ! भगवान् राघवेन्द्र की सेवा में चलने का समय हो रहा है, महिमामयी !

सीता : मुझे भी प्रभु के दर्शन के विना एक-एक क्षण युग हो रहा है। आप समुचित व्यवस्था करें, लंकेश्वर !

विभीषण : (सरमा से) देवी, आवश्यक तैयारी शीघ्र करो। मुझे विश्वास है, मेरा आग्रह मानकर ये करुणामयी लंका के बहिर्द्वार तक शिविका में जायेंगी और उसके आगे अपने व्रत की रक्षा के लिए प्रभु के दर्शन होने तक पैदल चलेंगी।

हनुमान् : लंकेश्वर का प्रस्ताव स्वीकार्य है, माता ! इसमें आपके व्रत की रक्षा है और विभीषण की मर्यादा की भी।

विभीषण : लंका के बहिर्द्वार को पार कर जब भगवती पैदल चलेंगी, तब इनके दर्शन के लिए आकुल वानर और भालु-सैनिक सनाथ हो जायेंगे। सरमा ! शिविका भेज रहा हूँ, तुम आवश्यक व्यवस्था करो।

[**विभीषण और हनुमान् जाते हैं।**]

चतुर्थ दृश्य

[स्थान : लंका की युद्धभूमि। जहाँतक दृष्टि जाती है, युद्धभूमि में वानर और भालुओं की सेना का प्रसार दिख पड़ता है। विजय-दृप्त सैनिक हर्षनाद कर रहे हैं। त्रिकूट पर्वत के पाद-प्रान्त में स्थिर एक शिला पर भगवान् राम बैठे हैं। उनके सामने जाम्बवान सुग्रीव और अंगद बैठे हैं। नील, नल, जय आदि सेनापति उनके दाँये-बाँये खड़े हैं। उनकी दाहिनी ओर सुमित्रानन्दन उतरे हुए धनुष के सहारे शिर झुकाये हुए खड़े हैं। कुछ दूर पर काष्ठखण्डों का एक ऊँचा विशाल समूह आयताकार चुना हुआ दिखाई पड़ रहा है। लक्ष्मण बार-बार उद्विग्न-से होकर उधर देखते हैं। जाम्बवान हाथ जोड़कर भगवान् राम के सामने उठकर खड़े होते हैं।

राम : कुछ कहना चाहते हैं ऋक्षराज !

जाम्बवान : यदि आपकी आज्ञा हो, देव !

राम : आपके सैन्यबल और बुद्धिबल दोनों ने मुझे लंकायुद्ध का महार्णव पार करने में अप्रतिम अवलम्ब प्रदान किया है। मैं आपका ऋणी हूँ। आप जो कुछ कहना चाहते हैं, अवश्य कहें, मल्लपति !

जाम्बवान : आपके शील-स्वभाव की ही यह विशेषता है कि आप मुझ-जैसे क्षुद्रों को भी आदर देते रहे हैं। आपने इस संकटकाल में अपना राजमन्त्री बनाकर मुझे अपरिमित विश्वासभाजन माना। मेरी सभी मन्त्रणाओं को स्वीकार कर आपने मुझ वृद्ध को गौरवान्वित किया। यह सब आपकी उदारता है, राजराजेश्वर !

राम : महात्मन् ! विद्या और वय दोनों दृष्टियों से आप मेरे लिए पूज्य हैं। आप जैसे मन्त्रतत्त्व के मर्मज्ञ, शास्त्र और शस्त्र दोनों के अप्रतिम ज्ञाता, कार्यकुशल जितेन्द्रिय, तेजस्वी, क्षमाशील तथा सन्धि और विग्रह के सम्यक् उपयोग और अवसर को जाननेवाले राजर्षि को मन्त्री के रूप में पाकर ही मैं इस युद्ध में लोकद्वेषी पराक्रम और

उत्साह की विजृम्भित अर्चियोंवाले रावण-रूपी ज्वालामुखी का शमन कर सका हूँ। आपके कथन को मैं शक्ति-भर आदेश मानकर स्वीकार करूँगा, मल्लराज !

जाम्बवान : यह आपका परम अनुग्रह है, देव ! किन्तु, आज मैं आपसे जो कुछ कहने जा रहा हूँ, वह केवल मेरा व्यक्तिगत निवेदन नहीं है। वह कपीश्वर सुग्रीव, तरुण युवराज अंगद, नल, नील, जय, गवाक्ष, द्विविद, शरभ आदि आपके सब मन्त्रियों और सेनापतियों का अभिमत है। मैं आपके समस्त सुहृदों और अनुयायियों का प्रतिनिधि बनकर बोल रहा हूँ।

सुग्रीव : कोशलेन्द्र ! ऋक्षपति हम सबका अभीष्ट-निवेदन करेंगे।

राम : कपीश ! जो कुछ कहना हो, अवश्य कहें। मैं जानता हूँ, ऋक्षराज जनमत और साधुमत दोनों में समन्वय करने में कुशल हैं।

जाम्बवान : महाराज ! आपने मानव के वैयक्तिक, पारिवारिक एवं समग्र सामाजिक जीवन को परम कल्याणकारी उच्चाति-उच्च आदर्शों की मर्यादा में बाँधा है। आपने हम सब दाक्षिणात्य वनौकसों को आर्यत्व प्रदान किया है और यह बतलाया है कि आर्यत्व किसी कुल, जाति, वर्ण, सम्प्रदाय, क्षेत्र या देशविशेष की वस्तु नहीं। वह सदाचारमूलक और आदर्शमय जीवन के उत्कर्ष पर अवलम्बित है।

राम : आर्यत्व का वास्तविक स्वरूप यही है, तात ! आपसे और हनुमान् से श्रेष्ठ आर्यत्व का कोई अन्य प्रतिमान तीनों लोकों में दुर्लभ है।

जाम्बवान : प्रभु ! आपने गार्हस्थ्य-जीवन में एकपत्नीव्रत की महिमा प्रतिष्ठापित की। भ्रातृद्वेष से विषाक्त एवं जर्जर किष्किन्धा और लंका जैसे राजकीय एवं अन्य अनेकानेक सामान्य परिवारों के समक्ष आपने भ्रातृप्रेम का अद्वितीय उदाहरण प्रस्तुत किया और यह बतलाया कि आदर्श भ्रातृत्व ही श्रेष्ठ पारिवारिक जीवन की

आधारशिला है। किन्तु, आज आपने महासती देवी मैथिली की अग्नि-परीक्षा लेने का निश्चय कर अपने ही द्वारा प्रतिष्ठित आर्य-मर्यादा का उल्लंघन किया है। आपके इस निश्चय का अनुमोदन हमलोग नहीं करते, संसार का कोई सत्पुरुष नहीं कर सकेगा।

अंगद : (आवेश से) इक्ष्वाकुतिलक ! यद्यपि आपने मेरे पिता का वध किया था, फिर भी मुझे यह विश्वास हो गया था कि आप धर्म और न्याय के मूर्त्तिमान् विग्रह हैं। तभी मैंने आपके प्रति आत्म-समर्पण किया था और आपका अनुयायी बना था। यदि ऐसा न होता, तो मुझे आपके बाण से वीरगति पाने में ही प्रसन्नता होती। किन्तु, सीता देवी की अग्नि-परीक्षा का निश्चय कर आपने स्वयं सत्य और धर्म की मर्यादा का उल्लंघन करने का संकल्प किया है। यह अन्याय और अधर्म हम देख नहीं सकते।

राम : (गम्भीरता से) युवराज अंगद ! अधीर मत बनो।

अंगद : राघवेन्द्र ! धैर्य जबतक अपनी मर्यादा में रहता है, तभी तक वह वीरों का भूषण माना जाता है। हनुमान् के चारित्र्य जैसी पूर्णता का प्रतिमान अन्यत्र तीनों लोकों में कहाँ है ? राजराजेश्वर ! सत्य और ब्रह्मचर्य के अप्रतिम धनी उन मारुति ने लंका से लौटकर हम लोगों से जो कुछ कहा था, अग्नि-परीक्षा का साक्ष्य उससे अधिक विश्वसनीय नहीं हो सकता।

नल-नील : युवराज सत्य कहते हैं, सीता के निष्कलंक शील का उससे बड़ा साक्ष्य और कोई नहीं।

जाम्बवान : युवराज ! आंजनेय ने लंका से लौटकर हम लोगों से जो कुछ कहा था, उसे आप कोशलेन्द्र से कहें।

अंगद : मैं क्या कहूँ, पितृव्य ! आप ही उसे कहें। आपकी वाणी से अनुमोदित होकर सम्भव है वह महाराज के द्वारा मान्य हो।

जाम्बवान : वह मैं अनेक बार कह चुका हूँ। तुम्हारे अनुरोध से इस विशाल वानरवाहिनी के समक्ष फिर कहे देता हूँ। हनुमान् ने कहा था—सीता का पातिव्रत, उनका शील-स्वभाव अनन्य और अभूतपूर्व है। जिस नारी का शील-स्वभाव आर्या सीता के समान होगा, वह अपनी तपस्या से तीनों लोकों को धारण कर सकती है, अथवा कुपित होकर तीनों लोकों को जला सकती है। हाथ से छू जाने पर अग्नि की प्रज्वलित शिखा भी वह काम नहीं कर सकती है, जो क्रोध दिलाने पर जनकनन्दिनी सीता कर सकती हैं।

नील : उन्होंने यह भी कहा था—तपस्या, सत्य भाषण तथा पति में अनन्य भक्ति के कारण आर्या सीता अग्नि को भी जला सकती हैं, आग उन्हें नहीं जला सकती।

[सहसा बड़ा कोलाहल होता है। 'आर्या सीता की जय', 'मैथिली देवी की जय', 'जनकनन्दिनी की जय' का स्वर चारों ओर फैल जाता है। विभीषण प्रवेश करते हैं।]

विभीषण : (अभिनन्दन कर) प्रभु ! आर्या मैथिली आंजनेय के साथ आ रही हैं। वे लंका के द्वार तक ही शिविका पर चढ़कर आई हैं। वहाँ से वे पैदल ही चलकर आ रही हैं। वानर-भालु-सेना मातृदर्शन का यह सुयोग पाकर हर्षविभोर हो जयजयकार कर रही है।

जाम्बवान : तप से अत्यन्त कृश और शील-सुकुमारी विदेह-राजनन्दिनी पैदल क्यों आ रही हैं ? आपने राजकीय मर्यादा का उल्लंघन क्यों होने दिया, लंकेश्वर ! उन्होंने लंका के द्वार तक आकर शिविका का परित्याग क्यों किया ?

विभीषण : मैंने जान-बूझकर यह अपराध नहीं किया, ऋक्षराज ! उन्होंने कहा, मेरे स्वामी सैकड़ों योजन दुर्गम जल-स्थल पार कर मेरे उद्धार के लिए यहाँ आये हैं, मैं भी पैदल ही चलकर उनके दर्शन करूँगी। उनके इस आदेश के समक्ष हमें विवश हो जाना पड़ा, महात्मन् !

जाम्बवान : धन्य हैं वे !

अंगद : (आवेश से) कोशलेन्द्र ने उन्हीं आर्या के शील की अग्नि-परीक्षा की व्यवस्था की है। लंकेश्वर ! देखिए वह चिता, जिसके निकट सुमित्रानन्दन नतमुख खड़े हैं।

विभीषण : यह मैं क्या सुन रहा हूँ, प्रभु ! क्या सूर्य के प्रकाश-धर्म की भी परीक्षा होती है ? क्या अग्नि का ताप-गुण भी सन्देह का विषय माना जा सकता है ? भगवती जनकनन्दिनी के शील की परीक्षा का विचार ही अत्यन्त अनार्य कर्म है। यह क्या होने जा रहा है, आर्य लक्ष्मण !

लक्ष्मण : मैं अनुगत-मात्र हूँ, लंकेश्वर !

(फिर शिर नीचा कर लेते हैं)

विभीषण : अनुगत तो मैं भी हूँ, वीरशिरोमणि ! आर्या जानकी का अप्रतिम, निष्कलंक, सूर्य, अग्नि, पवन और त्रिपथगा को भी पवित्र करने की क्षमतावाला शील देखकर ही मैंने अपने बड़े भाई से विद्रोह किया था और कोशलेन्द्र का अनुगामी बना था। मेरे अग्रज ने युद्धभूमि में प्राण छोड़ते समय देवी मैथिली के सम्बन्ध में जो कुछ कहा था, वह आपने सुना है, सुमित्रानन्दन !

लक्ष्मण : वह सब मैं जानता हूँ, लंकापति !

विभीषण : आर्य भी जानते हैं। फिर भी, यह निर्मम विधान क्यों ?

राम : लंकेश्वर ! लंका का युद्ध लोकहित-सम्पादन के लिए लड़ा गया है, लोकरुचि-संवर्द्धन के लिए नहीं।

विभीषण : लोकहित के लिए देवी जानकी ने क्या नहीं किया और क्या नहीं सहा है देव ! उसके लिए देवी विदेहराज-नन्दिनी को अब अधिक कष्ट देना अनुचित है।

(हनुमान् का प्रवेश)

अंगद : जाम्ववान, नल-नील और हमलोग भी यही कह रहे हैं, लंकेश्वर !

हनुमान् : (अंगद से) आपलोग किस विषय को लेकर क्षुब्ध दिखाई दे रहे हैं, युवराज ?

अंगद : क्या आप नहीं जानते ? जिन भगवती जानकी के शील के प्रभाव से रक्षित रह कर हमलोगों ने लंका पर विजय प्राप्त की, उन्हें ही भगवान् राघवेन्द्र ने अग्नि में प्रविष्ट होकर अपने शील की शुद्धता प्रमाणित करने का आदेश दिया है।

हनुमान् : यह मैं जान चुका हूँ, युवराज !

अंगद : आश्चर्य ! फिर भी आपने इसका विरोध नहीं किया ?

हनुमान् : विरोध अवश्य किया ! पर........

अंगद : पर क्या ?

हनुमान् : पर, मैं यह समझ गया हूँ कि प्रभु कोशलेन्द्र जननी जानकी का हृदय जानते हैं और वे इनका हृदय जानती हैं। वे कुछ क्षणों में यहाँ आ रही हैं, उनके आने तक हम लोग शान्त रहें।

जाम्बवान : ठीक है, हमलोग भगवती के आने की प्रतीक्षा करें।

हनुमान् : भगवती के प्रेम से आकृष्ट होकर वे सब राक्षसियाँ भी उनके पीछे-पीछे चली आ रही हैं, जिनको रावण ने उनकी आरक्षिका और प्रपीडिका के रूप में नियुक्त किया था।

विभीषण : मेरे रोकने पर भी वे नहीं रुकीं, चारित्र्यदेवता आर्या जानकी के अप्रतिम शील से उनका हृदय विजित है। कहती थीं, वे उनके चरणों का अवलम्ब नहीं छोड़ना चाहतीं।

हनुमान् : उनकी एक प्रमुख आरक्षिका त्रिजटा कह रही थी, यौवन के उद्दाम उपभोगों की विराट् राजधानी लंका में जहाँ सतत उच्छृंखल, सदायौवना प्रखर रूपसियों ने जीवन-भर वासना के उद्दीप्त दीप की तरह जलकर लंकेश्वर को प्रसन्न करने में अपना जीवन सफल माना था, वहीं इस मानवी सीता ने स्वेच्छा से असंख्य त्यागों और कष्टों का वरण कर एक नया इतिहास लिखा है।

विभीषण : यह सत्य है। वस्तुतः, लंका के हृदय को आर्या विदेहनन्दिनी ने जीता है। लंका का जीवन अन्तर्मुख होता जा रहा है। लोग विषय-पराङ्मुख होते जा रहे हैं और अपने भीतर अबतक अज्ञात एवं अनिर्वचनीय अन्तश्चेतना का अनुभव करते हैं।

जाम्बवान : बन्धु ! हमलोगों की विजय तो उस विजय के समक्ष नगण्य है।

अंगद : आर्या की आरक्षिकाएँ आ रही हैं। उनके शील का उनसे बड़ा साक्षी और कौन हो सकता है ? क्या फिर भी भगवती के शील की अग्नि-परीक्षा की आवश्यकता रह जायगी ?

[कोलाहल बढ़ता है। 'आर्या जानकी की जय', 'विदेह-राजनन्दिनी की जय' का आनन्द-रव निकट सुनाई पड़ने लगता है।

हनुमान् : (राम से) प्रभु ! देवी आ रही हैं।

राम : आने दो......

लक्ष्मण : तात ! यदि आज्ञा हो तो, मैं आगे बढ़कर आर्या के चरणों की वन्दना करूँ।

राम : जाओ, वत्स (**लक्ष्मण जाते हैं**) (**स्वगत**) मुझे कष्ट और त्याग की पूर्णतमा प्रतिमा वैदेही के प्रति भी कठोर होना होगा। आह, दैव !

(पीडा से आँखें मूँद लेते हैं)

(लक्ष्मण हनुमान् को साथ लेकर जाते हैं)

[कोलाहल बढ़ता है, एक शुभ्र आलोक-मण्डल अवतरित होता हुआ प्रतीत होता है। वह धीरे-धीरे निकट आता है, सीता देवी सामने आ जाती हैं— उनके पीछे लक्ष्मण और हनुमान् हैं।

लक्ष्मण : (**आगे बढ़कर**) तात ! जिनके असहनीय वियोग में संसार के सभी पदार्थ आपके लिए दुःखजनक वन गये थे, वे विदेहराज-नन्दिनी आपके समक्ष उपस्थित हैं।

राम : देवी ! **(कण्ठ भर आता है)...**

लक्ष्मण : आर्या ! आपकी वियोग-वेदना ने जाते-जाते भी प्रभु का कण्ठावरोध कर दिया है। आपके विरह में वे अलौकिक धैर्य के कारण ही अबतक जीवन धारण कर सके हैं।

सीता : आर्यपुत्र ! पुनर्जीवन प्राप्त कर मैं आपको प्रणाम करती हूँ। अमृतशलाका-जैसी आपकी नील जलद-छवि के दर्शन पाकर मेरे तपे हुए नेत्र शीतल हो गये हैं। मेरा मुरझाया हुआ जीवन-सुमन विकसित हो उठा है। प्रभु ! मुझे अपने चरणों में स्थान दें।

राम : देवी...विदेहराज-नन्दिनी ! ...इक्ष्वाकु-कुलकमले... **(चुप हो जाते हैं, मुख पर उदासी छा जाती है।)**

सीता : आर्यपुत्र ! आज्ञा दें। आप एकाएक चुप क्यों हो गये ? वनवास की अशेष यन्त्रणाओं के बीच सतत अम्लान रहनेवाली आपकी मुखश्री आज इस अवसर पर मलिन क्यों हो रही है ? वत्स लक्ष्मण, यदि तुम कुछ जानते हो, तो बताओ।

लक्ष्मण : माता ! प्रभु के हृदय की बात आपसे अधिक और कौन जान सकता है ?

सीता : वत्स ! प्रभु किसी असाधारण गम्भीर चिन्ता में निमग्न प्रतीत होते हैं, वे किसी धर्मसंकट में हैं। क्या मैं प्रभु की चिन्ता दूर करने का कोई उपाय कर सकती हूँ ?

राम : देवी ! चौदह वर्षों तक वन में अथवा वन्दिनी रहकर घोर कष्ट सहन करते हुए तुमने सर्वोच्च मानवीय आदर्शों की स्थापना के कार्य में मेरे साथ सहयोग किया है। आज उस अनुष्ठान की पूर्णाहुति की वेला प्राप्त है। नारीत्व के सर्वोच्च आदर्श की प्रतिष्ठापना के लिए अन्तिम बलिदान शेष है।

सीता : यदि वह पूर्णाहुति मेरे शरीर से भी सम्भव हो, तो मैं उसके लिए प्रस्तुत हूँ आर्यपुत्र !

राम : देवी ! हृदय पर पत्थर रखकर मुझे यह व्यवस्था देनी पड़ रही है कि तुम प्रज्वलित अग्नि में प्रवेश कर अपने शील की निष्कलंकता प्रमाणित करो ! लोकहित के लिए यह विधान अनिवार्य है !

लंका से आई हुई राक्षसियाँ : (हाहाकार कर भगवान् राम के समक्ष प्रणत होकर) महाराज ! यह घोर अन्याय है। ये देवी वैदेही समस्त तीर्थों के जल और सैकड़ों यज्ञों से भी अधिक पवित्र हैं ! अग्नि के द्वारा इनकी पवित्रता की परीक्षा का विचार अनुचित है।

अंगद : इस साक्ष्य के पश्चात् अग्नि-परीक्षा का विधान धर्म का अपमान है।

राक्षसीगण : महादेवी वैदेही के शील की पवित्रता प्रमाणित करने के लिए हम सब प्रज्वलित चिता में प्रवेश करने के लिए तैयार हैं। लंका की यह धरती, यह आकाश, यह पवन, ये सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, सागर की उद्वेलित ऊर्मियाँ सभी महारानी जानकी के पवित्र चरित्र के गान में निष्ठ हैं।

सीता : सखियो ! आपलोग शान्त रहें। मेरे स्वामी ने मानव-धर्म की प्रतिष्ठा के लिए बाल्यावस्था में ही वनवास का पवित्र व्रत लिया था। धर्मवृद्धि और लोकहित के लिए ही उनका जीवन अर्पित है, वे अनुचित नहीं कर सकते। उनके आदेश-पालन में सबका मंगल है। वत्स लक्ष्मण ! अपने अग्रज की आज्ञा का पालन करो !

राम : लक्ष्मण ! अग्नि प्रज्वलित करो। लोक के समक्ष वैदेही अपने शील की पवित्रता प्रमाणित करें।

[लक्ष्मण बिना कुछ बोले हुए काष्ठ-समूह के पास जाकर उसे प्रज्वलित करते हैं। अग्नि की, कालसर्पों की जैसी लपलपाती हुई जिह्वा आकाश को ग्रसती हुई प्रतीत होती है। चारों ओर हाहाकार होता है। देवी सीता भगवान् राम की परिक्रमा कर धीरे-धीरे उस अनल-समूह की ओर बढ़ती हैं। सुग्रीव, जाम्बवान, अंगद, विभीषण, अन्य अनेक सेनापति और सैनिक तथा लंका से आई हुई राक्षसियाँ उनके सामने सिर टेक देती हैं। वे उस प्रज्वलित

अग्नि के निकट पहुँचकर ध्यानस्थ रहकर कुछ देर खड़ी रहती हैं, फिर बोलने लगती हैं।]

सीता : अग्निदेव ! यदि मन, वचन और कर्म से मैंने पति की सेवा की है, तो तुम मेरे लिए शीतल हो जाओ। यदि मेरा हृदय एक क्षण के लिए भी राघवेन्द्र से पृथक् न हुआ हो, तो सम्पूर्ण जगत् के साक्षी अग्निदेव मेरे लिए शीतल हो जायँ। यदि मैंने मन, वाणी और क्रिया द्वारा सर्वधर्मों के मूर्त्तिमान् विग्रह रघुवंशशिरोमणि का कभी अतिक्रमण न किया हो, तो अग्निदेव मेरी रक्षा करें। यदि भगवान् सूर्य, वायु, दिशाएँ, चन्द्रमा, दिन-रात, दोनों सन्ध्याएँ, पृथ्वी देवी तथा अन्य सब देवता मुझे पवित्र चरित्र से युक्त जानते हों, तो अग्निदेव उसे लोक में प्रमाणित करें।

[यह कहकर वैदेही प्रज्वलित चिता की लपटों में प्रवेश कर जाती हैं। ऐसा प्रतीत होता है, उस अग्नि में कामधेनु के घृत की अखण्ड शुभमन्त्रपूत वसु-धारा अर्पित की गई है। सहसा चिता तीव्रातितीव्र आलोक विकीर्ण करती हुई अधिक वेग से प्रज्वलित हो उठती है। लक्ष्मण, हनुमान्, सुग्रीव, जाम्बवान, अंगद आदि भय और आशंका से नेत्र मूँद लेते हैं। वानर, राक्षसियाँ और राक्षस आर्त्तस्वर से क्रन्दन करने लगती हैं। सहसा धरती के अन्तराल से एक करुण ध्वनि सुनाई पड़ती है।]

पृथ्वी : रामभद्र ! सीता को जन्म देकर मैंने अपने को धन्य माना था। किन्तु, उसका यह दुःख अब मुझसे सहा नहीं जाता। वत्से ! सीते !

राम : हा देवि ! नियति ने मुझे कुलिश से भी कठोर बनाया है। किन्तु, मेरे भीतर जलते हुए दावानल को कौन देख सका है। सन्धि-स्थान टूट रहे हैं, शिराएँ विशीर्ण-सी हो रही हैं...... (आँसू गिरते हैं।)

[सहसा वातावरण हिमशीतल हो जाता है। प्रज्वलित चिता की लपटें प्रफुल्लित अरुण कमलों के रूप में खिलती हुई दिखाई पड़ती हैं। उसके बीच में दिव्य कान्ति-सम्पन्न देवी सीता

अम्लान खड़ी दिखाई पड़ती हैं। वे सूर्य की भाँति अरुण-पीत कान्ति से प्रकाशमान हैं। प्रतप्त सुवर्ण के आभूषणों से उनका दिव्य विग्रह शोभित है। सरमा के द्वारा पहनाये गये उनके कण्ठ में शोभा पानेवाले फूलों के हार कुम्हलाये तक नहीं हैं। घन नीलालका सौदामिनी की कान्ति को लज्जित करनेवाली सीता देवी के चरणों के निकट अग्निदेव विनीत भाव से संस्थित दिखाई पड़ते हैं। आकाश से पुष्पवृष्टि होती है।]

अग्निदेव : पुरुषोत्तम श्रीराम ! विदेह-राजकुमारी के चरण-स्पर्श से मैं पवित्र और शीतल हो गया हूँ। इन महासती को जलाने का सामर्थ्य मुझमें नहीं। संसार की निःशेष पवित्रता इनके विग्रह में मूर्त्तिमती है। आप इन्हें स्वीकार करें।

राम : देव ! मैं जानता हूँ, विदेहनन्दिनी जानकी तीनों लोकों में परम पवित्र हैं ! मैं यह भी जानता था कि जिस प्रकार सागर अपनी तट-भूमि का उल्लंघन नहीं कर सकता, उसी प्रकार रावण भी अपने ही सतीत्व के तेज से सुरक्षित सीता पर अत्याचार नहीं कर सकता। ये तपोमयी सीता अपने तप के कारण परम दुर्द्धर्ष और मन से भी दूसरे के लिए अप्राप्य हैं। अनन्यहृदया जानकी मुझसे उसी तरह अभिन्न हैं, जैसे सूर्य से उनकी प्रभा।

[वानर-सेना जयजयकार करती है। नील-श्वेत आलोक के के तीव्र प्रसार के साथ पटाक्षेप होता है।]

●

७. महाकवि कालिदास

पात्र-परिचय

पुरुष-पात्र

विक्रमादित्य : उज्जयिनी के प्रातःस्मरणीय सम्राट्, विक्रम-संवत् के प्रवर्त्तक, शकारि

महाकवि कालिदास : रघुवंश, मेघदूत, अभिज्ञानशाकुन्तल आदि के प्रणेता, महाकवि

महामात्य : प्रधान मन्त्री

महाबलाधिकृत : सेनापति

सम्राट् विक्रमादित्य की सभा के नवरत्नों में से चार :

धन्वन्तरि : प्राचीन भारत के पीयूषपाणि चिकित्सक, आयुर्वेद के प्रवर्त्तक

वररुचि : महापण्डित

वराहमिहिर : प्राचीन भारत के विश्व-प्रसिद्ध महान् ज्योतिर्विद्

अमरसिंह : अमरकोश के प्रणेता

सभासद, सेवक, प्रतिहारी आदि

स्त्री-पात्र

महादेवी मलयवती : सम्राज्ञी

देवी विद्योत्तमा : महाकवि कालिदास की कला-मर्मज्ञा जीवन-सहचरी

परिचारिका आदि

पहला दृश्य

स्थान : उज्जयिनी के राजप्रासाद के मन्त्रणा-भवन का एक कक्ष।

[सिंहासन पर शकारि श्रीविक्रमादित्य समासीन हैं, उनके सिर पर रत्न-जटित मुकुट है, और अपराजित नाम का यशस्वी खड्ग सिंहासन के सहारे टिका है, जिसपर उनकी दृष्टि बार-बार अटकती है। उनका नवीन शाल-वृक्ष जैसा लम्बा शरीर, आजानु-विलम्बित भुजाएँ, कुंकुम-चर्चित प्रशस्त ललाट, आयत दृग, सौम्य उन्नत नासा, पीवर मांसल वृषभ-स्कन्ध, निगूढ-जत्रु और पृथुल वक्षःस्थल देखकर ऐसा प्रतीत होता है, मानों शौर्य का सूर्य कुछ देर विश्राम करने के लिए वहाँ ठहर गया है। उनकी बाईं ओर एक छोटा-सा सिंहासन और रखा है, जो रिक्त है। दोनों ओर क्षौम आस्तरणवाली कुछ आसन्दियाँ रखी हैं, जिनपर महामात्य, महाबलाधिकृत, महादण्डनायक, राज-ज्योतिषी वराहमिहिर, राजपण्डित, वररुचि और राजवैद्य धन्वन्तरि विराज-मान हैं। महाराज को किसी गम्भीर चिन्ता में निमग्न देख सब लोग चुप हैं।]

विक्रमादित्य : (धन्वन्तरि की ओर देखकर) राजवैद्य, महाकवि का स्वास्थ्य अब कैसा है?

धन्वन्तरि : महाकवि अब पूर्ण स्वस्थ हैं, महाराज! थोड़ी-सी निर्बलता शेष है, वह भी शीघ्र दूर हो जायगी। अब तो वह उद्यान में प्रातः सायं भ्रमण भी करने लगे हैं।

महामात्य : महाराज, कल मैं महाकवि के दर्शनार्थ उनके निवास-स्थान पर गया था। मुझे यह देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि महाकवि अब थोड़ा-बहुत चलने-फिरने लगे हैं। उस समय वह अपने सरस्वती-निकुंज में ध्यान-मुद्रा में भावाविष्ट-से बैठे थे। मैं आर्या विद्योत्तमा से कुशल-समाचार पूछकर चला आया। हाँ, देवी वासन्ती से मुझे

यह भी ज्ञात हुआ कि महाकवि ने आज अपनी लेखनी और भूर्ज-पत्र माँगा है। कदाचित् वह कुछ लिखने का उपक्रम कर रहे हैं।

धन्वन्तरि : ठीक है महाराज! कई दिन से वह मुझसे काव्य-रचना करने की अनुमति चाहते थे। क्षीणावस्था के कारण मैंने उन्हें अबतक रोक रखा था, पर क्षिप्रा की वेगवती धारा को कोई कब तक अवरुद्ध करके रख सकता है? मैंने उनसे कहा था, आप पूर्ण स्वस्थ हो जायँ, तब 'विक्रम-विजय' नामक महाकाव्य लिखें।

विक्रमादित्य : (चौंककर) भिषग्रत्न, आपने महाकवि से ऐसा अनुचित प्रस्ताव कैसे किया, इससे तो उन्हें बड़ी मनोव्यथा हुई होगी?

वररुचि : इस प्रस्ताव में अनुचित क्या है महाराज? मैंने भी उनसे एक बार इस म्लेच्छोच्छेदन-दीक्षित अपराजित की विजय-गाथा लिखने का अनुरोध किया था।

वराहमिहिर : महाराज! आपके पराक्रम और कर्त्तृत्व के परिणामस्वरूप इस धरती पर कृतयुग छा गया है। सारे राष्ट्र ने कृत संवत्सर का प्रवर्त्तन कर आपके पौरुष को अमर बनाने का अनुष्ठान किया है। श्रुतियों में भी इस प्रकार के पौरुष का अभिनन्दन मिलता है—

कलिः शयानो भवति, संजिहानस्तु द्वापरः।
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति, कृतं सम्पद्यते चरन्॥

फिर, महाकवि कालिदास को रचना के लिए इससे अच्छा और विषय प्राप्त ही क्या हो सकता है?

विक्रमादित्य : महापण्डित, महाकवि की प्रतिभा को नरकाव्य-रचना में नियुक्त करना सरस्वती का अपमान है। यह राष्ट्र की सर्वोच्च शक्ति और क्षमता का दुरुपयोग है।

धन्वन्तरि : महाराज, मैं निश्चित रूप से यह जानता हूँ कि महाकवि जब से स्वस्थ होने लगे हैं, तब से निरन्तर आपकी कीर्त्ति को अमर करने-वाले किसी ग्रन्थ की रचना की चिन्ता में हैं।

विक्रमादित्य : मुझे ज्ञात है, पर महाकवि मेरे बालसखा हैं। मुझे विश्वास नहीं होता कि उनकी भारती कभी नरकाव्य-रचना में प्रयुक्त होगी। यदि वह मेरे परम स्नेह-वश ऐसा करना भी चाहेंगे, तो मैं उन्हें रोकूँगा। मैं महाकवि की प्रतिभा को विपथगामिनी नहीं होने दूँगा। एक शासक को राष्ट्र के भौतिक साधनों की सुरक्षा की जितनी चिन्ता होती है, उतनी ही उसके बौद्धिक और सांस्कृतिक साधनों की भी होनी चाहिए।

महामात्य : महाराज, यदि आपकी कीर्त्ति-कथा कालिदास जैसे महाकवि द्वारा काव्यबद्ध हो सकी, तो वह इस राष्ट्र के पौरुष को युग-युग तक जगाती रहेगी। वह आनेवाली पीढ़ियों के लिए शक्ति का शाश्वत प्रेरणा-स्रोत होगी। उसे आप नरकाव्य कहने का आग्रह ही क्यों करते हैं ?

विक्रम : महाकवि, तर्क द्वारा असत्य को सत्य नहीं बनाया जा सकता। मैं ऐसा अहंभावापन्न नहीं कि इस राष्ट्र की काव्य-मर्यादा के उल्लंघन का दोषी बनूँ, और एक मिथ्या आदर्श की सृष्टि करूँ। नरकाव्य अपने को काव्य और कला का आश्रयदाता समझनेवाले शासकों की चाटुकारिता-मात्र है। जब भारती के वरपुत्र कविगण नरकाव्य-रचना करने लगेंगे, तब शासक विलासी और निर्वीर्य हो जायेंगे, और देश में दीर्घ काल के लिए कलियुग छा जायगा। मैं चाहता हूँ, हमारे महाकवि वाल्मीकि और व्यास के पदांकों का अनुसरण करें, जिससे हमारे आर्ष काव्य की ज्योतिर्मयी परम्परा अखण्ड और मर्यादा अभंग रहे।

महामात्य : पर आपको आज नरमात्र मानता ही कौन है, महाराज ! आप तो इस देश के जन-जन के युग-युग के देवता हैं।

विक्रम : यदि यह सत्य है, तो मुझे देवत्व प्रदान करनेवाली शक्ति को न भूलिए, महामात्य ! आप यह जानते ही हैं कि उज्जयिनी में जब

पूज्य पिताजी की सत्ता शकों के आकस्मिक आक्रमण के सामने उच्छिन्न हो गई थी, तब उस नितान्त विपन्न और असहायावस्था में माता सौम्यदर्शना और बाल-सहचर भट्ट-मात्र ही मेरे अवलम्ब थे।

महामात्य : मुझे ज्ञात है, महाराज!

विक्रम : उन्होंने ही मेरे हृदय में पिता का प्रतिशोध-अनल प्रज्वलित किया। उन्होंने ही मेरे मन में देश के विभिन्न गणराज्यों को संगठित कर शकों के उन्मूलन की कल्पना जगाई। शकों के संहार और निष्कासन के बाद उन्होंने ही मुझे दिग्विजय द्वारा राष्ट्र को सुदृढ और सीमान्तों को सुरक्षित बनाने की प्रेरणा दी। उन्होंने ही मेरे अन्तःकरण में आदर्श महामानव की जो प्रतिमा प्रतिष्ठित की, मैं उसकी छाया भी तो नहीं हूँ। जिसे आप विक्रम के पौरुष का विलास समझते हैं, वह कालिदास की काव्य-कला की एक किरण-मात्र का प्रकाश है।

महाबलाधिकृत : आप ठीक कहते हैं, महाराज! दिग्विजय-काल में जब हमारा अभियान पारसीकों, यवनों और हूणों के विरुद्ध चल रहा था, और हम अपने देश की सीमाओं को छोड़कर शत्रु-देश में दूर तक प्रविष्ट हो गये थे, उस समय महाकवि की वाणी हमारी सेना में अद्भुत ओज का संचार करती थी। जब यवनों से अन्तिम निर्णायक संग्राम होनेवाला था, उसी रात्रि को महाकवि ने हमें रघु की दिग्विजय-गाथा सुनाई, हमारे चारणों ने वही सेना के प्रत्येक भाग में जा-जाकर दुहराई। उस रात्रि का वह दृश्य अभूतपूर्व था! सुदूर यवन-प्रदेश के विकट शीत में हमारे श्रान्त-क्लान्त सैनिकों के सहस्र-सहस्र कण्ठ गरज उठे, असंख्य खड्ग-लताओं ने अनल और विद्युत् के फूल बरसाए और धनुषों की टंकार ने दिग्गजों के हृदय कँपा दिये। महाकवि ने रघु की हूण-विजय का जो चित्र हमारी

कल्पना में जगाया था, हमने दूसरे दिन युद्धक्षेत्र में उसी को सत्य कर दिखाया था।

विक्रमादित्य : स्मरण है सेनापते ! हूणों के भयानक संग्राम में महाकवि के आग्नेय उद्‌बोधन ने सफलता दिलाई थी। **(अपराजित की ओर देख)** महाकवि की वाणी ने ही तो सदैव इसे शाणित रखा है।

तत्र हूणावरोधानां भर्त्तृषु व्यक्तविक्रमम् ।
कपोलपाटलादेशि बभूव रघुचेष्टितम् ।।

विकट संग्राम-भूमि में युद्ध की अनिर्णायक स्थिति में अपने लौह-धनुष से निरन्तर शरक्षेप करते हुए अश्वारूढ कालिदास ने जब मेरे कन्धे-से-कन्धा भिड़ाकर यह श्लोक गाया, तो मेरे भीतर मानों अमोघ वज्र को विफल करनेवाले सुरेन्द्रजयी रघु का पौरुष जाग उठा। **(खड्‌ग हाथ में लेकर)** मेरे इस अपराजित मन में उस समय कितना प्रचण्ड रोष भर गया था, मैं स्वयं उसे देखकर विस्मित था, लगता था यह खड्‌ग ही मुझे चला रहा है......।

महाबलाधिकृत : परमभट्टारक, उस दिन का आपका पराक्रम अद्‌भुत था! अपराजित ने तो मानों उस दिन अपनी ज्योति से शत्रुओं की नेत्र-ज्योति छीन ली थी।

विक्रमादित्य : सेनापते ! कालिदास ने ही मुझे प्रातःस्मरणीय रघु के दिग्विजय-पथ का पथिक बनाया था। पारसीक देश जीतने के बाद उन्होंने ही तो मुझे दुर्दान्त म्लेच्छों की मरुभूमि में प्रविष्ट होने की प्रेरणा दी। आपके कुशल परिचालन में जब-जब हमारी सेना ने भल्ल नामक बाणों से म्लेच्छों के सरघाव्याप्त मधु-पटल के समान दाढ़ीवाले शीश काट-काटकर धरती को आच्छादित कर दिया और बचे हुए अपनीत-शिरस्त्राण यवन-जन हमारी शरण आ गये, तब महाकवि ने ही तो म्लेच्छ देश के पश्चिमी तट पर मुझे अश्वेत शिवलिंग स्थापित करने की प्रेरणा दी थी।*

---

* भल्लाय वर्जितैस्तेषां शिरोभिः श्मश्रुलैर्महीम् ।
तस्तार सरघाव्याप्तैः स क्षौद्रपटलैरिव ।। (कालिदास)

महाबलाधिकृत : दक्षिण के समुद्र-तट पर प्रतिष्ठित शंकर का ज्योतिर्लिंग रामेश्वर जिस प्रकार भगवान् राम की लंका-जय की कथा कह रहा है, उसी प्रकार म्लेच्छ देश की पश्चिमी समुद्र-सीमा पर अवस्थित वह अश्वेत शिवलिंग आपके और इस राष्ट्र के पराक्रम का अमर स्मृति-चिह्न बन गया है।

वररुचि : वह अश्वेत शिवलिंग म्लेच्छों के लिए वरदान बन गया है। महाकवि ने तो मुझे बताया था कि शास्त्र-विहित पूजा-पद्धति से बहिर्गत म्लेच्छजन उसके दर्शन-मात्र से निष्पाप हो जायेंगे, उस शिवलिंग का ऐसा अद्भुत प्रभाव है।

वराहमिहिर : ज्योतिषशास्त्र के अनुसार उस अश्वेत ज्योतिर्लिंग की स्थापना ऐसे मुहूर्त्त में हुई है कि वह आचन्द्र-दिवाकर विधर्मियों एवं विदेशियों तक से पूजित रहेगा। निःसन्देह, सत्य महाकवि कालिदास की वाणी का अनुसरण करता है।

वररुचि : महाराज, महाकवि की यही वाणी यदि अपराजित की कीर्त्ति-गाथा लिखना चाहेगी, तो क्या आप उसपर प्रतिबन्ध लगायेंगे ?

विक्रमादित्य : कवि की वाणी पर प्रतिबन्ध तो अधार्मिक और अनुत्तरदायी शासक ही लगाते हैं। उसका कोई प्रश्न ही नहीं उठता। मैं तो केवल महाकवि की विश्वजयी क्रान्तिदर्शिनी प्रतिभा का महान् प्रयोग और उपयोग देखना चाहता हूँ। आज महादेवी मलयवती महाकवि के दर्शन के लिए गई थीं, लौट आई होंगी। मुझे महाकवि की मनोदशा और स्वास्थ्य-वृत्त जानने की उत्कण्ठा है। चलकर ज्ञात करता हूँ।

(सिंहासन से उठते हैं, सभासद भी)

(पटाक्षेप)

दूसरा दृश्य

[महाराज विक्रमादित्य के प्रासाद का विश्राम-गृह, मखमली कालीनों और स्थूलोपधानों से युक्त। बीच में महाराज का आसन। सामने महादेवी मलयवती बैठी हैं। दो परिचारिकाएँ व्यजन कर रही हैं।]

विक्रम : मैं अधीरता-पूर्वक आपके लौटने की प्रतीक्षा कर रहा था, महादेवी ! कहिए, महाकवि अब कैसे हैं ?

मलयवती : महाकवि अब तन और मन दोनों से पूर्ण स्वस्थ हैं। अब तो उनकी लेखनी काव्य-रचना में भी प्रवृत्त हो गई है।

विक्रम : क्या महाकवि ने इन दिनों किसी नवीन रचना का उपक्रम किया है ?

मलयवती : उपक्रम तो किया है, महाराज ! इन्हीं दिनों उन्होंने एक नितान्त अभिनव रचना का उपसंहार भी किया है।

विक्रम : वह कौन-सी रचना है, महादेवी ! महाकवियों का कृतित्व राष्ट्र के अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों का साधक होता है। यदि कालिदास की कोई रचना पूर्ण हुई है, तो समझिए, इस देश और जाति का कोई पुण्य ग्रह उदित हो गया है।

मलयवती : महाराज, देवी वासन्ती ने मुझे बताया कि सम्राट् की दिग्विजय-वाहिनी सूर्य के भी तेज को मन्द करनेवाली दक्षिण दिशा के पौरुष को हतप्रभ करती हुई विदर्भ देश के रामगिरि-नामक पर्वत पर पहुँची, तो वर्षा-काल आ जाने के कारण उसको चार महीने वहीं बिताने पड़े। मेघ और सौदामिनी की उस प्रणय-भूमि में कदाचित् विरही सैनिकों के निःश्वासों से उद्दीप्त होकर महाकवि के हृदय में मानव-मन की युग-युग से संचित विरह-पीडा की असह्य चेतना भर गई, और उन्होंने 'मेघदूत' नामक महाकाव्य का सर्जन

आरम्भ किया। उसका पूर्वार्द्ध तो उन्होंने रामगिरि पर्वत पर ही पूरा कर दिया था, उत्तरार्द्ध अभी इन्हीं दिनों उज्जयिनी में कवि के स्वास्थ्य-लाभ-काल में पूरा हुआ है।

विक्रम : (**प्रसन्न होकर**) यह तो बड़ा शुभ समाचार है, सम्राज्ञी! क्या आपने मेघदूत का कोई अंश सुना भी है?

मलयवती : हाँ, महाराज! मेरे आग्रह करने पर देवी वासन्ती ने मुझे उसका एक अंश वीणा पर गाकर सुनाया। मुझे लगा, जैसे दशों दिशाएँ साश्रु होकर कालिदास की वाणी का अभिनन्दन कर रही हैं। जल-सीकरों का सेवन कर सतत शीतल रहनेवाला क्षिप्रावात भी सहसा उष्ण हो उठा, विरह-वेदना के मेघों से जैसे धरती और आकाश सब परिव्याप्त हो गये। मेरा तो हृदय-स्पन्दन ही रुक गया, महाराज! जड़ को चेतन बनानेवाले कालिदास की यह कला धन्य है! धन्य है वह देश, जहाँ मेघदूत-जैसा सूक्ष्मतम मानवीय संवेदनाओं का प्रकाशक काव्य लिखा गया है, और कोटि-कोटि बार धन्य है वह सौभाग्यवती विरहिणी, मेघदूत काव्य के मूल में जिसके वियोग की चेतना और प्रेरणा विद्यमान है।

विक्रम : महादेवी, सबसे अधिक धन्य हैं हम लोग, जिनके शासन-काल में महाकवि कालिदास का कृतित्व लोक-मंगल की अजस्र वर्षा के निमित्त सतत उद्यत है। (**मुस्कराते हुए**) महारानी, क्या आपने यह जानने का प्रयत्न किया कि मेघदूत का प्रेरक व्यक्तित्व कौन है?

मलयवती : (**हँसते हुए**) हाँ, मैंने देवी विद्योत्तमा से पूछा कि आप और देवी वासन्ती मिलकर मुझे यह बतायें कि मेघदूत आप दोनों में से किसके वियोग की प्रेरणा से लिखा गया है। विदुषी विद्योत्तमा ने मन्द-गम्भीर स्मिति के साथ कहा, मेघदूत तो विश्व-भर के अशेष विरही-जनों का हृदय-स्पन्दन है, वह तो कवि की निर्वैयक्तिक विरह-चेतना का पूर्णतम प्रकाशन है। वैसे, यदि और कोई बात हो, तो देवी वासन्ती ही उसे बता सकती है। देवी वासन्ती यह सुनकर मेरी ओर देखकर हँसी और चुप हो गई।

विक्रम : क्या आपने महाकवि के दर्शन किये, महादेवी ?

मलयवती : उसी के लिए तो मैं महाकवि के निवास-स्थान पर गई थी, महाराज ! देवी वासन्ती ने मुझे बताया था, कवि आज किसी नवीन रचना का उपक्रम कर रहे हैं, कदाचित् कोई महाकाव्य है।

विक्रम : (चिन्तायुक्त स्वर में) क्या आप जान सकीं, वह कौन-सा महाकाव्य है ?

मलयवती : महाराज, मैं जब महाकवि के उद्यान-कक्ष में गई, वह ध्यान-मुद्रा में बैठे भक्ति-विभोर होकर किसी सद्यःनिर्मित श्लोक का मन्द स्वर में पाठ कर रहे थे। मैं धीरे-धीरे जाकर उनके सम्मुख आसन पर बैठ गई, उनको मेरे आने का ज्ञान ही न हुआ। मैंने देखा, भूर्ज-पत्र पर सुन्दर अक्षरों में लिखा है :

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ ॥

जब मैंने स्फुट वाणी में उन्हें प्रणाम किया, तभी उनकी भाव-समाधि भंग हुई। उन्होंने उल्लसित कण्ठ से मुझे आशीर्वाद दिया, और आपका अनामय पूछा.........।

विक्रम : (अधीर भाव से) क्या आपने उनके प्रस्तावित महाकाव्य के विषय में कोई जिज्ञासा की ?

मलयवती : अवश्य, सम्राट् ! मेरे पूछने पर उन्होंने हँसकर कहा कि सुना है सम्राट् भी मेरे इस प्रस्तावित महाकाव्य के विषय में कुछ चिन्तित हैं ! क्या यह सत्य है ?

विक्रम : तो आपने उन्हें क्या बताया, महादेवी ?

मलयवती : मैंने कहा, जब से महाराज को ज्ञात हुआ है कि आप उनकी दिग्विजय-गाथा लिखने का उपक्रम कर रहे हैं, तब से वह बहुत चिन्तित हैं। महाराज नहीं चाहते, आप-जैसे महाकवि की प्रतिभा का प्रयोग नर-काव्य की रचना में हो। मैंने उनसे कहा, महाराज ने आपसे यह प्रार्थना की है कि आप अपने मित्र के प्रति आसक्ति

और मोह से दुर्बल न बनें, वाल्मीकि और व्यास-जैसे कविगुरुओं की परम्परा का ही अनुसरण करें।

विक्रम : तो......तो फिर उन्होंने क्या उत्तर दिया ?

मलयवता : मेरा अनुरोध सुनकर उनका मुखमण्डल किसी दिव्य आभा से आलोकित हो उठा, उनके नेत्र किसी स्वर्गीय चेतना से प्रदीप्त हो उठे। उन्होंने मुझसे कहा, आप महाराज को विश्वास दिला दें, कालिदास इस महान् राष्ट्र के आर्ष कवियों की मर्यादा और परम्परा की अवमानना नहीं करेगा। यह कहकर वे फिर भाव-समाधि में लीन हो गये।

विक्रम : फिर उन्होंने कुछ नहीं कहा ?

मलयवती : मैं जब प्रणाम कर चलने को उद्यत हुई, तब एक बार फिर उन्होंने नेत्र खोले और कहा—"महादेवी ! मैं गुरु-पूर्णिमा के दिन राजसभा में उपस्थित होकर अपने प्रस्तावित महाकाव्य का विषय निरूपित करूँगा। महाराज से कह देना, उद्विग्न न हों।" यह कहकर वे ध्यानस्थ हो गये और मैं प्रणाम कर देवी वासन्ती और विद्योत्तमा से मिलकर चली आई।

विक्रम : (प्रसन्न होकर) मंगलमय समाचार है। मन्त्रणा-गृह में चलिए, महामात्य को बुलाकर सब योजना बना डाली जाय। व्यास-पूर्णिमा के दिन हमारे राष्ट्र के सब मनीषी समवेत होकर जनसभा में महाकवि का अभिनन्दन करें।

मलयवती : अवश्य, महाराज ! परम अभिनन्दनीय है आपका यह विचार। **(उठकर द्वार की ओर संकेत करती हुई)** पधारिए, महाराज !

(महाराज उठते हैं। आगे-आगे विक्रम द्वार
की ओर बढ़ते हैं, पीछे महादेवी)

(पटाक्षेप)

तीसरा दृश्य

[महाराज विक्रमादित्य का जनसभा-गृह। व्यास-पूर्णिमा का चतुर्थ प्रहर है। सभागृह विशेष रूप से सजाया गया है। प्रत्येक व्यक्ति के लिए आसन निश्चित हैं, विद्वानों के लिए आसन्दियों पर कौशेय आस्तरण बिछे हुए हैं। ऊपरी प्रकोष्ठ की दीर्घाएँ नगर की महिलाओं से भरी हैं। बीच में महाराज का सिंहासन है, वाम भाग में सम्राज्ञी मलयवती का मयूरासन। महाराज के दाहिनी ओर महाकवि कालिदास के लिए विशेषरूप से निर्मित हीरक-मरालासन है। महाराज के सिंहासन और कवि के मरालासन के बीच दो आसन और हैं, जो विदुषी विद्योत्तमा और देवी वासन्ती के लिए नियत हैं। महाकवि के आसन के वाद महामात्य का आसन है। सब लोग आकर यथा-स्थान बैठ गये हैं, केवल सम्राट्, महाकवि, विदुषी विद्योत्तमा और देवी वासन्ती के आसन रिक्त हैं। सभा-भवन मणि-दीपों से उद्भासित हो रहा है। अगुरु-गन्ध और कस्तूरी की सुगन्ध से घ्राण-प्राण अमोदित हो रहे हैं। दूर से भारी जनरव की सूचना मिलती है। 'महाकवि कालिदास की जय', 'सम्राट् विक्रमादित्य की जय' के घोष धीरे-धीरे निकट आते प्रतीत होते हैं।]

प्रतिहारी : (**सविधि अभिवादन कर**) महाप्रभु, महाकवि के साथ परम भट्टारक अब प्रासाद के सिंहद्वार में प्रवेश करना चाहते हैं। राजपथ पर अपार भीड़ हो गई है, सुदूरवर्त्ती जनपदों से भी जनसमूह महा-कवि के दर्शन और अभिनन्दन के लिए समुद्र की तरह उमड़ पड़ा है ! राजपथ तिल-तिल कर बढ़ रहा है, इसलिए महाकवि और महाराज को सभा में सम्प्राप्त होने में इतना विलम्व हो रहा है।

अमरसिंह : महामात्य ! कवि के अभिनन्दन का आयोजन इतने कम समय में हुआ कि केवल मालव के निकटवर्त्ती जनपदों के लोग ही इसमें सम्मिलित हो पाये। सारे राष्ट्र को इस सारस्वत महोत्सव में योगदान का अव-सर मिलना चाहिए था।

वराहमिहिर : आप ठीक कहते हैं, पण्डितप्रवर ! महाकवि के स्वास्थ्य-लाभ के उपलक्ष्य में राष्ट्रीय महोत्सव का अनुष्ठान होना चाहिए ।

महामात्य : मैं आप लोगों का यह प्रस्ताव अभी महाराज के समक्ष प्रस्तुत करूँगा ।

[सहसा 'महाकवि कालिदास की जय', 'सम्राट् विक्रमादित्य की जय' का घोष सभागृह के बाहर सुनाई पड़ने लगता है। प्रतिहारी दौड़कर बाहर जाता है और लौटकर महाराज के आगमन की सूचना देता है। सब लोग अपने-अपने स्थानों पर खड़े हो जाते हैं। सबसे पहले महाराज विक्रमादित्य और महाकवि कालिदास हाथ-में-हाथ दिये प्रवेश करते हैं। महाराज के दाहिने हाथ में अपराजित नामक यशस्वी खड्ग है, महाकवि के बायें हाथ में पीत कौशेय में लिपटा हुआ कोई ग्रन्थ। महाकवि और सम्राट् के पीछे-पीछे देवी विद्योत्तमा, साम्राज्ञी मलयवती और देवी वासन्ती चल रही हैं। दोनों ओर व्यजन, छत्र और चँवरधारी परिचारक-परिचारिकाएँ हैं। सभागृह बार-बार महाकवि और सम्राट् के जयघोष से काँप-काँप उठता है। महामात्य आगे बढ़कर महाकवि और सम्राट् को राजसिंहासन की ओर ले चलते हैं। सम्राट् बाँह पकड़कर महाकवि कालिदास को मरालासन पर बैठाते हैं। साम्राज्ञी मलयवती बढ़कर महाराज को सहस्र कमलों का हार देती हैं, जिसमें पुष्पों के बीच-बीच हीरक, पद्मराग, नीलमणि आदि रत्न पिरोये हुए हैं। महाराज वह हार महाकवि को पहना देते हैं। साम्राज्ञी महाकवि पर अक्षत, पुष्प, दूर्वा आदि की वृष्टि करती हैं। चारों ओर से महाकवि पर पुष्प-वर्षा होने लगती है। पण्डित लोग समवेत स्वर से वेदपाठ करते हैं—"कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः... आदि। राजकीय गायक सरस्वती की और फिर भारतीय राष्ट्र की वन्दना करता है। सरस्वती की वन्दना में "या कुन्देन्दु तुषार हार धवला......" आदि श्लोकों का और राष्ट्र-वन्दना में "गायन्ति देवाः किल गीतिकानि..." का पाठ होता है। वन्दना के बाद सब लोग बैठ जाते हैं।]

सम्राट् : (खड़े होकर) भारतीय राष्ट्र के महिमामय मनीषियो और सम्मानित सभासदो ! आज व्यास-पूर्णिमा के पुनीत पर्व पर हम

लोगों को महाकवि कालिदास के अभिनन्दन का जो पुण्य योग प्राप्त हुआ है, वह हमारा परम सौभाग्य है। महाकवि कालिदास का गौरव हिमालय से भी समुच्च और सागर से भी गम्भीर है। महाकवि की वाणी इस महान् और विशाल राष्ट्र की अन्त:प्रकृति और बाह्य प्रकृति दोनों का अन्यतम दर्पण है। हमारे महाकवि जितने बड़े भावयोगी हैं, उतने ही बड़े कर्मयोगी भी। हमारे दिग्विजय-अभियान में उन्होने अपनी ओजस्विनी वाणी से सैनिकों के विजयोत्साह को प्रलय-सागर के समान उद्वेलित कर दिया, जिसने बढ़कर चारों दिशाओं को आप्लावित कर लिया। दूसरी ओर उन्होंने शत्रुओं के वक्ष को निरन्तर अपने बाणों का लक्ष्य बनाया। युद्धकाल में भी उनका शस्त्र और शास्त्र दोनों का अभ्यास निरन्तर चलता रहा। अनवरत मानसिक और शारीरिक श्रम से श्रान्त तथा शत्रुओं के प्रहारों से क्षत-विक्षत उनका शरीर दिग्विजय-अभियान पूर्ण होते-होते अत्यन्त अस्वस्थ हो गया। पीयूषपाणि भिषग्राज धन्वन्तरि की दीर्घकालव्यापी चिकित्सा के बाद महाकवि अब स्वस्थ हो पाये हैं। आज प्राय: एक वर्ष बाद उन्होंने मेरी सभा की शोभा बढ़ाई है। इस अवसर पर मैं इस महान् राष्ट्र के कण-कण और अपने विशाल साम्राज्य के जन-जन के प्रतिनिधि के रूप में महाकवि का अभिनन्दन करता हूँ, और भगवान् से प्रार्थना करता हूँ कि वे सहस्रायु होकर युग-युग तक इस राष्ट्र की कीर्त्ति को विश्व के गौरव की चरम चूडा पर अधिष्ठित रखें। मेरी हार्दिक अभिलाषा है कि वाल्मीकि और व्यास के साथ महाकवि कालिदास का भी स्मरण किया जाय। (**बैठ जाते हैं।**)

सब सभासद : तथास्तु ! तथास्तु ! यही होगा महाराज, यही होगा महाराज!

('महाकवि कालिदास की जय', 'सम्राट् विक्रमादित्य की जय' का घोष होता है। एक बार फिर महाकवि पर पुष्प-वर्षा होती है।)

महाकवि कालिदास : परम महाभट्टारक, विद्वज्जनो और सम्मानित सभासदो ! आप लोगों ने आज मुझे जो असाधारण सम्मान प्रदान किया है, उसका मैं अधिकारी हूँ, इसमें मुझे सन्देह है। अपने बाल-सहचर इन सम्राट् के स्नेह और मैत्री की शक्ति से मेरी कवि-प्रतिभा निरन्तर ऊर्जित होती रही। मेरी बाल्यावस्था में ही यह पुण्यभूमि दुर्दान्त शकों से आक्रान्त हो उठी। उनका अत्याचार देखकर मेरे कोमल मन में भी उनके प्रति प्रतिशोधानल प्रज्वलित हो उठा। मैं घूम-घूमकर गीत गा-गाकर जनता को शकों के विरुद्ध उभाड़ा करता था, पर मेरे प्रतिशोध के स्वप्न को मेरे इन बाल-सहचर सम्राट् ने ही सत्य बनाया। शकों के पराभव के बाद मेरे मन में रघु और अर्जुन के दिग्विजय-अभियान की स्मृति जगी। मैंने अपनी वह कल्पना अपने मित्र, इन सम्राट् के समक्ष प्रस्तुत की। सम्राट् ने मेरा वह स्वप्न भी सत्य कर दिया। आज भारतीय साम्राज्य पश्चिम में लोहित सागर से पूर्व में ब्रह्मपुत्र के तट तक विस्तृत है। उत्तर में हूणदेश से लगाकर दक्षिण में सिंहल तक आर्य जाति का जयघोष हो रहा है। राष्ट्र की विजय और वैभव की पराकाष्ठा को प्राप्त देखनेवाला मैं धन्य हूँ, शत सहस्र-बार धन्य हूँ। इस देश के अपराजेय शौर्य और पराक्रम की ज्योतिर्मयी गाथा गा-गाकर मेरा कवि-जीवन सफल हो गया है। **(बैठ जाते हैं। कालिदास का जयघोष होता रहा है।)**

धन्वन्तरि : महाकवि, सुना है, आपने इन दिनों किसी महाकाव्य की रचना का उपक्रम किया है। हमारे महाराज उसकी विषय-वस्तु जानने के लिए विशेष उत्सुक और चिन्तित हैं।

कालिदास : मुझे महाराज की उत्सुकता और चिन्ता का कारण ज्ञात हो गया, भिषग्राज ! मैंने दिग्विजय-अभियान काल में 'विक्रमोर्वशीयम्' और 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' नामक दो नाटक लिखे थे। इधर कुछ

स्वस्थ होकर मैंने 'मेघदूत' नामक खण्डकाव्य पूरा कर दिया है और अब एक महाकाव्य लिखना प्रारम्भ कर चुका हूँ।

विक्रम : वह कौन-सा महाकाव्य है, कवि सम्राट् ? हम सब यह जानने को उत्सुक हैं।

कालिदास : सम्राट् ! जिस प्रकार संसार का सबसे ऊँचा पर्वत हिमालय तथा सबसे गम्भीर समुद्र इस राष्ट्र की सीमाओं का निर्धारण करने में निरत है, उसी प्रकार यहाँ के कवि इस देश के राष्ट्रीय चरित्र और व्यक्तित्व के मान-बिन्दुओं का निरूपण करते आये हैं। वस्तुतः, हमारे आर्ष कवियों ने ही इस पुनीत देश के आचरण की मर्यादा बाँधी है। आदिकवि ने अपने आदिकाव्य में राम के व्यक्तित्व और चरित्र की जो उदात्त रूप-रेखा प्रस्तुत की थी, महर्षि वेदव्यास ने प्रकार-भेद से महाभारत को महान् चरित्रों की विशाल अटवी बनाकर उसी की व्याख्या प्रस्तुत की। मैंने अपने महाकाव्य में उन्हीं के पदांकों का अनुसरण करने का बाल-प्रयास आरम्भ किया है।

महामात्य : साधु ! साधु ! आपके काव्य का विषय क्या है, महाकवि ?

कालिदास : महामात्य ! वस्तुतः, मेरे महाकाव्य की प्रेरक शक्ति तो ये सम्राट् विक्रमादित्य ही हैं। आदिकवि ने मेरी कल्पना में सर्वगुणोपेत, समुद्र के समान गम्भीर, हिमालय के समान धैर्यवान्, विष्णु के समान वीर्यवान्, चन्द्रमा के समान प्रियदर्शन, क्रोध में कालाग्नि के समान और क्षमा में पृथ्वी के सदृश जिस निखिल आनन्दवर्धन व्यक्तित्व की कल्पना जगाई थी, वह हमारे सम्राट् में साकार और सजीव हो उठी है। यह देश राम और कृष्ण के साथ-ही-साथ सदैव विक्रमादित्य का नाम भी स्मरण करेगा। मैं इन्हीं विक्रम की दिग्विजय-गाथा लिखकर अपनी लेखनी सार्थक करना चाहता था। पर, इस प्रस्ताव-मात्र से महाराज को अत्यन्त कुण्ठित देखकर मैंने

अपना निश्चय वदल दिया है। मन्त्रिश्रेष्ठ ! हमारे महाराज ने प्रतापी सूर्यवंशियों के चारित्र्य की पुण्यपरम्परा को पुनरुज्जीवित किया है। उस प्रतापी इक्ष्वाकु-वंश में रघु जैसे अनेक दिग्विजयी अश्वमेध-पराक्रम महच्चरित्र सम्राट् हो गये हैं। उनके चरित्र की सब विशेषताओं का समन्वय मुझे सम्राट् विक्रमादित्य के चरित्र में मिलता है। इसलिए, मैं 'रघुवंश' नामक महाकाव्य लिखने का निश्चय कर चुका हूँ। उसका मंगलाचरण लिखा जा चुका है, अब कथा का आरम्भ करूँगा। संसार रघुवंश के महापुरुषों के चरित्र का अनुशीलन कर हमारे सम्राट् विक्रमादित्य के पुण्यशौर्य का निरन्तर स्मरण करेगा।

(महाराज विक्रमादित्य उच्छ्वसित हो महाकवि को गले से लगा लेते हैं। सब जयजयकार करते हैं।)

विक्रमादित्य : महाकवे, आप वस्तुतः कविकुलगुरु हैं। आपने भारतीय काव्य-मर्यादा की रक्षा ही नहीं की, आर्ष कवि-परम्परा को पुनरुज्जीवित भी किया है। आपके द्वारा प्रणीत रघुवंशियों की कीत्ति-कथा इस देश में अनेक विक्रमादित्य उत्पन्न करेगी।

कालिदास : मैं कह चुका हूँ, आपका नाम इस देश में राम-कृष्ण के समान ही प्रातःस्मरणीय हो गया है। विक्रमादित्य का नाम राष्ट्र की सर्वोच्च उपाधि बन जायगा। युगावतार महापुरुष इस देश के लिए बड़े-से-बड़ा बलिदान और त्याग करने के पश्चात् जनता द्वारा विक्रमादित्य के विरद से अलंकृत किये जाते रहेंगे। चक्रवर्त्ती सम्राटों में इस उपाधि को प्राप्त करने की स्पृहा रहेगी।

सब सभासद : साधु, साधु, महाकवि ! आपकी वाणी सत्य होगी, अवश्य सत्य होगी।

महामात्य : आपका यह महाकाव्य कबतक पूर्ण होगा महाकवि ?

कालिदास : आगामी विजयादशमी अथवा अधिक-से-अधिक दीपमालिका तक।

विक्रमादित्य : दीपमालिका के दिन देश-भर में महाकवि कालिदास का जन्मोत्सव मनाया जायगा, और उसी दिन हम लोग प्रथम बार महाकवि के मुख से रघुवंश के कुछ अंशों का श्रवण कर धन्य होंगे ! भगवान् करें, महाकवि कालिदास की वाणी और रघुवंशियों की चरित्र-परम्परा इस देश में अमर हो ।

(सब लोग गगनभेदी जयजयकार द्वारा महाराज के प्रस्ताव का अनुमोदन करते हैं, बाहर शंखों और तूर्यों का नाद होता है। पर्दा गिरता है।)

८. मा निषाद

पात्र-परिचय

वाल्मीकि : आदिकवि, वाल्मीकिरामायण के रचयिता

भरद्वाज : वाल्मीकि के शिष्य

ब्रह्मा : संसार के सृष्टिकर्त्ता

नारद : प्रसिद्ध देवर्षि

वशिष्ठ : प्रसिद्ध महर्षि

विश्वामित्र : प्रसिद्ध राजर्षि

अरुन्धती : वशिष्ठ की पत्नी

कौशल्या : दशरथ की पत्नी

उद्घोषक, ऋषिकुमार, राजपुरुष, वृद्ध, वृद्धा, गौतम, शतानन्द, जाबालि, मार्कण्डेय, राम, भरत, लव, कुश, बटुक, महर्षिगण आदि ।

प्रथम दृश्य

[तमसा नदी का शान्त तट। सूर्योदय अभी नहीं हुआ है। उषा की लालिमा से समस्त वन-प्रदेश एवं तमसा की धारा अनुरंजित हो गई है। पक्षियों का कलरव प्रातःकालीन शान्ति के समुद्र में तरंगों की तरह उत्थित हो रहा है। सहसा वातावरण श्रुतियों के संगीत से स्पन्दित हो उठता है :

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः॥
यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं
यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं
मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये॥

उपर्युक्त मन्त्रों का पाठ करते हुए महर्षि वाल्मीकि अपने शिष्य भरद्वाज के साथ प्रवेश करते हैं। उनके श्मश्रु-मण्डित मुखमण्डल पर असाधारण तेज और शान्ति है, उनके हाथ में कमण्डलु है। उनका शिष्य भरद्वाज वल्कल-वस्त्र, कलश और महर्षि के बैठने के लिए रुरु मृग का चर्म लिये हुए है।]

वाल्मीकि : वत्स भरद्वाज! तमसा का यह घाट बड़ा रमणीय है—कर्दम और कलिल का कहीं नाम नहीं। यहाँ जल भी सज्जन के हृदय के समान निर्मल है।

भरद्वाज : यथार्थ है, देव! तमसा का यह तट अपने आश्रम के निकट ही है। इसकी शोभा भी वैसी ही है, जैसी अपने आश्रम के निकट भागीरथी की है। आज का यह प्रभात भी तो अनिर्वचनीय आभा और शोभा से सम्पन्न है, गुरुदेव!

वाल्मीकि : ठीक कहते हो, तात! मुझे भी कुछ वैसा ही प्रतीत होता है। आज के प्रभात की ये सूर्य-किरणें प्राणों के किसी निगूढ प्रदेश में

प्रविष्ट होती हुई प्रतीत होती हैं। प्राणों में एक अननुभूत जागृति का उन्माद भरता जा रहा है। प्राणों की इस वेदना, प्राणों के इस दुरन्त आवेग का संवरण करना मेरे लिए कठिन हो रहा है।

भरद्वाज : ऋत और चिति की सर्वोच्च भूमिकाओं पर संचरण करनेवाले आपके मन की स्थिति का अनुमान लगाना मेरे लिए कठिन है, गुरुदेव! पर इतना मैं भी अनुमान कर रहा हूँ कि आज मानों मानवता के इतिहास के किसी नये युग का प्रभात समुपस्थित है। चेतना के प्रसुप्त महासमुद्र में जैसे ज्वार आ गया है। समस्त परिवेश नया और बदला हुआ प्रतीत होता है।

वाल्मीकि : ऐसी ही बात है, वत्स! युग-युग की जडता के पर्वत कांपते हुए प्रतीत होते हैं, उनके शृंग टूट-टूटकर गिर रहे हैं। परा चेतना का महार्णव उच्छ्वसित हो उठा है, स्फीत रोष से वह आघात-पर-आघात करता हुआ सव अवरोधों को ध्वस्त कर देना चाहता है। इसमें अपरिमित वेदना भी है और अपरिसीम आनन्द भी। मैं बता नहीं सकता, यह क्या है?

भरद्वाज : कई दिनों से आपकी इस मनःस्थिति का अनुभव हमलोग कर रहे हैं। हमलोग सोचते थे, आप निर्विकल्प समाधि में स्थित होने जा रहे हैं।

वाल्मीकि : यह निर्विकल्प समाधि से भिन्न स्थिति है। धरती पर जैसे कोई अभिनव वसन्त उतरा है, तरु-वीरुध देहहीन सौन्दर्य और आनन्द की भापा में मुझसे कुछ सम्भाषण करते हुए प्रतीत होते हैं। सृष्टि के प्रत्येक कण और अणु में व्याप्त अज्ञात संगीत से मेरा वक्षस्थल झंकृत हो उठा है। देखते हो यह क्रौंच-मिथुन, इनकी विलास-क्रीडा। मुझे चराचर की समग्र संवेदना इनके उद्दाम आवेश में अभिव्यक्त होती हुई प्रतीत होती है। इनके स्वर में कितनी मिठास है।

भरद्वाज : देव ! आज स्नान में अत्यधिक विलम्ब हो रहा। सन्ध्या और अग्निहोत्र की वेला बीत चली है।

वाल्मीकि : आश्चर्य ! आज मैं कितना आत्मविस्मृत हो गया हूँ। सूर्योदय हो चुका है, मैंने अभी स्नान भी नहीं किया। यहीं कलश रख दो और मुझे मेरा वल्कल दो। मैं इसी उत्तम तीर्थ में स्नान करूँगा।

[भरद्वाज तट पर वल्कल और कलश रख देता है, मृगचर्म बिछा देता है। महर्षि धारा में उतरकर स्नान कर नवीन वल्कल-वसन धारण कर मृगचर्म पर सन्ध्योपासना के लिए बैठते हैं। भरद्वाज कलश में जल लाकर रखता है। महर्षि सन्ध्योपासना के पूर्वांगों का समापन कर गायत्री मन्त्र का जप आरम्भ करते हैं। उसी समय क्रौंच नर के वेदनापूर्ण चीत्कार से वातावरण आहत हो उठता है, उसकी संगिनी क्रौंची के करुण क्रन्दन से वन में विषाद भर जाता है। महर्षि का ध्यान भंग होता है। वे अपने नेत्र खोलकर समीप खड़े भरद्वाज पर जिज्ञासा की दृष्टि डालते हैं।]

भरद्वाज : गुरुदेव ! जिस काम-मोहित क्रौंच-मिथुन को आपने विहार करते हुए और गान करते हुए देखा था, उसमें के नर-पक्षी को एक काले-कलूटे व्याध ने मार गिराया है। उधर देखिए, वह रक्त में लथपथ पड़ा तड़प रहा है, क्रौंची बेचारी करुण स्वर में आर्त्तनाद कर रही है।

[महर्षि उधर देखते हैं, ताम्रचूड क्रौंच शोणित में सना तड़प रहा है, क्रौंची दुःख से रो रही है। पीठ पर तरकस बाँधे, धनुष-बाण लिये एक कृष्णकाय निषाद उसकी ओर बढ़ रहा है।]

वाल्मीकि : शान्तं पापम् ! शान्तं पापम् ! (कुछ देर के लिए ध्यानस्थ हो जाते हैं और फिर आँखें खोलकर व्याध की ओर देखते हैं और आवेशपूर्ण वाणी में बोल उठते हैं।)

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥

[आकाश से पुष्पवर्षा होती है, भरद्वाज विस्मित हो महर्षि के वाक्यों को दुहराने का प्रयत्न करता है।]

भरद्वाज : 'मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः ।'

वाल्मीकि : वत्स ! मैंने इस पक्षी के शोक से आर्त्त होकर यह क्या कह डाला ?

भरद्वाज : (ध्यानस्थ होकर) गुरुदेव ! आपने जो कुछ कहा है, वह मुझे स्फुरित हो रहा है। मैं उसे सुनाता हूँ :

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः ।
यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥

वाल्मीकि : आश्चर्य तात ! इस शकुन्त के शोक से पीडित मेरे मुख से जो वाणी निःसृत हुई है, वह चार चरणों में आवद्ध है। इसके प्रत्येक चरण में समान वर्ण हैं। इसे वीणा की लय पर गाया भी जा सकता है। क्या मेरे शोक ने मेरी इस वाणी में श्लोक का रूप प्राप्त किया है ?

भरद्वाज : ऐसा ही है गुरुदेव ! आपकी यह वाणी निश्चय ही पुण्यश्लोक-रूपिणी है।

वाल्मीकि : वत्स ! इस पक्षी के शोक से पीडित होकर मैंने इस व्याध के अमंगल की कामना की। क्रोध के वशीभूत होकर मैं तपोभ्रष्ट तो नहीं हो गया हूँ ? लगता है, मैंने अनुचित कार्य किया है।

भरद्वाज : गुरुदेव ! आपकी वाणी करुणाप्रेरित है, क्रोधप्रेरित नहीं। आपके पवित्र मानस में तामस वृत्तियों का संचार असम्भव है। आपकी तपस्या के प्रभाव से आश्रम के पशु-पक्षियों ने भी वैर-भाव का परित्याग कर दिया है।

वाल्मीकि : फिर भी मेरा मन असमाहित है। मैं ग्लानि और शोक के द्वन्द्व से पीडित हूँ। मैं पुनः स्नान कर कुछ देर एकान्त में ध्यान करना चाहता हूँ। भरद्वाज तुम आश्रम में जाकर स्वाध्याय करो, मैं कुछ देर बाद आऊँगा।

भरद्वाज : जो आज्ञा, गुरुदेव !

[भरद्वाज कलश, वल्कल आदि लेकर जाता है, उसी समय आकाश से पुष्पवर्षा होती है। एक राजहंसयान आकाश से अवतरित होता हुआ दिखाई पड़ता है। वह धरती पर आ जाता है। उससे उतरकर अखिल विश्व की सृष्टि करनेवाले, सर्व-समर्थ, महातेजस्वी, चतुर्मुख ब्रह्माजी वाल्मीकि के सामने आते हैं। उन्हें देखते ही महर्षि वाल्मीकि सहसा उठकर प्रणति-निवेदन करते हैं। वे हर्ष और विस्मय के अतिरेक के कारण हाथ जोड़े हुए उनके सामने खड़े ही रह जाते हैं, कुछ बोल नहीं पाते। कुछ समाहित होकर महर्षि ब्रह्मा को पाद्य, अर्घ्य, आसनादि अर्पित करते हैं और पुन: सभक्ति प्रणाम कर उनसे आसन-ग्रहण करने का अनुरोध करते हैं। ब्रह्माजी बैठ जाते हैं और महर्षि को भी आसन ग्रहण करने का आदेश देते हैं।]

ब्रह्मा : महर्षि ! आज आप कुछ उद्विग्न दिखाई पड़ते हैं। आपके शरीर और मन दोनों अपने कर्म और चिन्तन से पूर्णरूपेण सन्तुष्ट हैं न ? ब्रह्मतेज से सम्पन्न एवं समर्थ होते हुए भी आज आप खिन्न क्यों हैं ?

वाल्मीकि : लोकपितामह ! मेरे उद्विग्न होने का एक विशेष कारण है। आज जब मैं यहाँ स्नानोत्तर सन्ध्या करने बैठा, तब एक क्रूर व्याध ने काम-क्रीडापरायण क्रौंच-मिथुन में से एक का अपने तीक्ष्ण वाण से अकारण वध कर डाला।

क्रौंची के करुण आर्त्तनाद को सुनकर मेरे मुख से सहसा यह निकल गया :

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥

तब से मेरा मन उसी घटना पर केन्द्रित है। क्रौंची के शोक और शाप के अनौचित्य की चिन्ता का द्वन्द्व मुझे अशान्त किये हुए है।

ब्रह्मा : (हँसते हुए) वत्स ! मेरी प्रेरणा से ही तुम्हारे मुख से यह वाणी निकली है। तुम्हारे परम पवित्र हृदय के शोक ने ही तुम्हारी वाणी

में श्लोकत्व प्राप्त किया है। तुमने आज मानव-जाति के इतिहास में भावयोग की अभिनव परम्परा का प्रवर्त्तन किया है।

वाल्मीकि : पितामह ! मैं आपका अभिप्राय नहीं समझा।

ब्रह्मा : मुनिश्रेष्ठ ! आपके मुख से जब यह वाणी निकली, उस समय आपके चित्त में रजोगुण और तमोगुण का अत्यन्ताभाव था, शुद्ध सत्त्व का उद्वेग ही आपकी इस वाणी द्वारा प्रकाशित हुआ है। भग्नावरण चित्त की स्थिति में, आपकी निर्विशेष करुणा का यह प्रसाद संसार को मिला है।

वाल्मीकि : देव ! अन्तःकरण की किसी ग्रन्थि के सहसा छिन्न होने का आभास मुझे मिल रहा है। किन्तु, मैं अपनी इस अनुभूति और अभिव्यक्ति को समझ नहीं पा सका हूँ।

ब्रह्मा : वत्स ! तुम्हारे अन्तःकरण की ग्रन्थियाँ पहले ही छिन्न हो चुकी हैं। आज तुम जिस मनोमुक्ति का अनुभव कर रहे हो, उसके माध्यम से रस के महार्णव की अवतारणा होगी। जिस छन्द से जगत् की सृष्टि होती है, वही आज तुम्हारी वाणी में आविर्भूत हुआ है। मानवता के इतिहास में चिरकाल तक आदिकवि के रूप में तुम्हारा स्मरण किया जायगा।

वाल्मीकि : दिव्यादिव्य अनुभूतियों की परम रसमयी अभिव्यक्ति वेद-वाणी में हुई है। उसके रहते आदिकवि होने का गौरव वैदिक ऋषियों के अतिरिक्त और किसे प्राप्त हो सकता है, पितामह !

ब्रह्मा : कमल-नाल के सूक्ष्म सूत्र के समान वेदवाणी ऋषियों के अन्तःकरण के अनाहत नाद के रूप में प्रकट होती है। वेदवाणी परात्पर ब्रह्म का आश्रय लेकर उसमें भेद का आरोप करती है, मायामात्र कहकर उस भेद का अनुवाद करती है और सबका निषेध उस कर परात्पर ब्रह्मतत्त्व में शान्त हो जाती है। अन्त में केवल वही श्रेष्ठ रहता है। यह सारी प्रक्रिया एवं परिणति अलौकिक है। यह वेदवाणी सर्वोच्च कोटि का काव्य है। इसमें सन्देह नहीं। किन्तु, तुम्हें इससे भिन्न सर्वथा अभिनव काव्य-परम्परा का प्रवर्त्तन करना है, महर्षि !

वाल्मीकि : यह मैं कैसे कर सकूँगा, लोकगुरु !

ब्रह्मा : तुम्हारे भीतर जिस चिदग्नि का जागरण हुआ है, उसकी अर्चियाँ तुम्हारी परम आनन्दविधायक वाणी में प्रकाशित होगी। तुम इस प्रबुद्ध चित्-शक्ति का उपयोग मानवता के सर्वोच्च मूल्यों की स्थापना के लिए करो। मानव के सामाजिक जीवन के पूर्णतम आदर्शों की व्याख्या और गान करो, तात !

वाल्मीकि : इसके लिए मुझे क्या करना होगा, पितामह !

ब्रह्मा : इसके लिए तुम्हें मर्यादापुरुषोत्तम एवं अन्यतमा मर्यादामूर्त्ति नारी के महान् चरित्र का अनुकीर्त्तन करना होगा—उनकी पुण्य-कथा लिखनी होगी।

वाल्मीकि : (**भावविभोर स्वर में**) कहाँ हैं ऐसे पुरुष और ऐसी नारी, लोक-पितामह ! मुझे उनके पाने का पथ बतलाइए।

ब्रह्मा : (**हँसकर**) अनुसन्धान करो, अनुसन्धान करो वत्स !

[वाल्मीकि भावातिरेक में आँखें मूँद लेते हैं। इसी बीच ब्रह्मा चले जाते हैं। परदा गिरता है।]

द्वितीय दृश्य

[गंगा-तट पर महर्षि वाल्मीकि का आश्रम। महर्षि के उटज के समक्ष यज्ञवेदी के चारों ओर अनेक बटुक भरद्वाज को घेरे हुए बैठे हैं और सब मिल-कर 'मा निषाद.........' श्लोक का परम विस्मित होकर बार-बार गान कर रहे हैं।]

एक बटुक : भरद्वाज ! क्रौंचपक्षी के दुःख से दुःखी होकर हमारे गुरुदेव ने समान अक्षरोंवाले चार चरणों से युक्त जिस वाक्य का गान किया, वह परम रसात्मक है।

भरद्वाज : इसमें क्या सन्देह, मित्र !

दूसरा बटुक : हम धन्य हैं, जिनके गुरु का शोक पुण्यमय श्लोक बन गया है।

तीसरा बटुक : एक प्रहर दिन चढ़ आया, अभीतक गुरुदेव तमसा-स्नान कर नहीं लौटे।

भरद्वाज : गुरुदेव आज भाव-समाधि जैसी दशा में थे। अब तो उन्हें आना ही चाहिए।

चौथा बटुक : बहुत विलम्ब हो गया है, भरद्वाज ! हमलोग चलकर देखें।

भरद्वाज : कुछ देर और प्रतीक्षा कीजिए, तबतक हमलोग यज्ञाग्नि प्रज्वलित करें।

[महर्षि वाल्मीकि का प्रवेश। वे अत्यन्त भावाविष्ट हैं, नेत्रों में करुणा और जिज्ञासा का अपूर्व योग है। लगता है, उनकी दृष्टि सृष्टि के मर्म को भेदकर उसके सार-सौन्दर्य के साक्षात्कार के लिए आकुल-व्याकुल है। उनको देखकर सब शिष्य खड़े होकर सविधि प्रणाम करते हैं। वे पूर्वाग्र कुशों के आसन पर बैठ जाते हैं और वटुकों को बैठने का संकेत करते हैं।]

भरद्वाज : गुरुदेव ! आज प्रातःकालीन यज्ञ अभी तक सम्पन्न नहीं हो सका है। आदेश हो, तो वेदी में अग्नि प्रज्वलित करूँ।

वाल्मीकि : (अन्तर्लीन-से) अभी तक वेदी की अग्नि नहीं जली, किन्तु मेरे अन्तर में चिदग्नि प्रज्वलित है, वत्स ! इसे श्रेष्ठ विचारों और उदात्त भावों का हवि चाहिए। किन्तु, इस हवि का संग्रह मैं किसके लिए करूँ, यह समझ में नहीं आ रहा है।......(आखें मूँद-कर)......कस्मै देवाय हविषा विधेम।

[वीणा की झंकार से वातावरण गुंजित हो उठता है। नारायण स्वर-ब्रह्मविभूषित वीणा पर 'नारायण', 'नारायण' गान करते हुए देवर्षि नारद का प्रवेश। महर्षि वाल्मीकि शिष्यों के साथ उठकर उनका स्वागत करते हैं और पाद्य, अर्घ्य, आसनादि अर्पित करते हैं।]

नारद : ब्रह्मचारियो ! अपने गुरुदेव की नई काव्य-रचना मुझे गाकर सुनाओ।

वाल्मीकि : इसकी सूचना आपको कैसे मिली ? क्या दिव्य दृष्टि से...... ?

नारद : लोकपितामह ब्रह्माजी ने मुझे कुछ काल पूर्व इसकी सूचना दी। पहले ब्रह्मचारियों को उस श्लोक का गान करने की अनुमति दीजिए।

वाल्मीकि : देवर्षि की आज्ञा का पालन करो, भरद्वाज !

[सब ब्रह्मचारी समवेत स्वर में 'मा निषाद...' का गान करते हैं, देवर्षि अपनी वीणा पर स्वर-सन्धान करते हैं। वाल्मीकि ध्यानस्थ हो जाते हैं।]

नारद : महर्षि ! इस वाणी में मानव-मन के विषाद की शाश्वत आवर्जना के बीज निहित हैं। आप ब्रह्माजी के आदेश का पालन करें।

वाल्मीकि : लोकपितामह ने मुझे सामाजिक मर्यादाओं की पूर्णता की प्रतिष्ठा करनेवाले नर और नारी-चरित्र का गान करने को कहा है।

नारद : आपकी चिन्मयी प्रतिभा के जागरण की यही सार्थकता है।

वाल्मीकि : तो फिर आप मुझे ऐसा पुरुष बतावें, जो विष्णु के समान वीर्यवान्, चन्द्रमा के समान प्रियदर्शन, समुद्र के जैसा गम्भीर और हिमालय के जैसा धैर्यवान् हो। मैं ऐसे महच्चरित्र का गान करना चाहता हूँ, जिसका क्रोध कालाग्नि के समान असहन और क्षमा-रूपिणी पृथ्वी के समान अपरिमेय है। जो त्याग में धनद और सत्य में धर्मराज से भी श्रेष्ठ है। सबमें सम भाव रखनेवाले एवं आर्यत्व कहे जानेवाले सद्गुण-समुच्चय को चरम उत्कर्ष तक पहुँचानेवाला नायक मुझे चाहिए, देवर्षि !

नारद : मिलेगा आपको ऐसा नायक, आदिकवि !

वाल्मीकि : सृष्टि में जितने विभूतिमान् सत्त्व हैं, उन सबकी विभूतियाँ उसके व्यक्तित्व का आश्रय पाकर धन्य हो गई हैं, संसार की महानता के अवतक के मानदण्ड जिसकी महानता के माप में छोटे हो गये हों, ऐसे चरित्रनायक की मुझे खोज है देवर्षि ! क्या ऐसा कोई महापुरुष इस समय लोक में है ?

नारद : है, अवश्य है। आपके द्वारा उद्भावित महाकाव्य के नायक का अवतरण हो चुका है।

वाल्मीकि : देवर्षि ! यदि ऐसा है, तो अनुकम्पा कर मुझे उसका पता बताइए। मैं मारुत के उच्छ्वासों के साथ दौड़ लगाकर अभी उसके पास पहुँचना चाहता हूँ। समुद्र की उत्तुंग तरंगों के दुर्दमनीय वेगवाले रथ पर बढ़-बढ़कर मैं उसे पा लेना चाहता हूँ। चरित्रों के असंख्य दीप जलाकर मैं उसे खोज निकालना चाहता हूँ—अभी, इसी समय।

नारद : यह आपका सौभाग्य है कि आपकी काव्य-साधना को सफल बनाने के लिए ऐसा नायक इस धरा-धाम पर अवतरित हो चुका है। वह कोटि-कोटि कामदेवों से अधिक सुन्दर है, करोड़-करोड़ शतक्रतुओं की शक्ति उसके पुरुषार्थ के समक्ष नगण्य है। वह कोटि-कोटि कालों में भी कराल है। असंख्य सूर्य उसके व्यक्तित्व के प्रभामण्डल की समता नहीं कर सकते। करोड़ों शेषनाग उसकी भार-धारण-क्षमता की समता नहीं कर सकते। करोड़ों विष्णुओं की प्रजापालन-शक्ति उसे सहज सुलभ है। करोड़ों रुद्रों का अपरिमेय बल उसे प्राप्त है। कोटि-कोटि तीर्थों की पवित्रता उसके चरित्र में है.........।

वाल्मीकि : (उच्छ्वसित होकर) इत्यलम्, देवर्षि ! यही हैं मेरे नायक ! कहाँ हैं वे, उनका नाम क्या है ?

नारद : वे इक्ष्वाकु-वंश में उत्पन्न अयोध्या के चक्रवर्ती सम्राट् महाराजा दशरथ के पुत्र हैं। उनका नाम राम है। अपनी परम यशस्विनी माता कौशल्या का आनन्द बढ़ानेवाले हैं।

वाल्मीकि : कृतकृत्य हुआ देव ! ऐसी ही महीयसी चरित्रनायिका का निर्देश भी आप कीजिए, तभी मेरा महाकाव्य अपना उद्दिष्ट लक्ष्य प्राप्त कर सकेगा।

नारद : आपकी चरित्रनायिका हैं उन्हीं की पत्नी सीता देवी ! संसार की, रूप और सौन्दर्य की सभी निधियाँ उनके चरणों पर न्योछावर हैं।

सतीत्व की मर्यादा के पालन में वे सावित्री, दमयन्ती और अनसूया से भी आगे बढ़ गई हैं। उनका शील करोड़ों गंगाओं से भी अधिक पवित्र है, उसमें तीर्थों के भी तीर्थीकरण की शक्ति है। वे मिथिला के ब्रह्मर्षि-वन्दित परम ज्ञानी विदेहराज जनक की पुत्री हैं। आप उनकी कन्या का गान कर लोक का कल्याण कीजिए।

वाल्मीकि : मेरी वाणी इन महच्चरित्रों के गान की शक्ति अर्जित कर सके, यह आशीर्वाद दें देवर्षि !

देवर्षि : सरस्वती स्वयं आपको सिद्ध होंगी, महर्षि ! आप योगधर्म में स्थित होकर भगवान् राम और सीता के चरित्र का साक्षात्कार कीजिए।

वाल्मीकि : आपका अनुग्रह मेरा पथ-प्रदर्शक रहेगा।

नारद : आपकी तपस्या तब पूर्ण होगी, जब आपके काव्य की चरित्रनायिका स्वयं आकर आपके आश्रम में निवास करेंगी और उनके पुत्रद्वय काव्यकृति के प्रथम गायक होंगे।

[आशीर्वाद की मुद्रा में अभ्युत्थान और प्रस्थान]

तृतीय दृश्य

[**काल** : पूर्ववर्णित घटनाओं को घटित हुए बहुत काल बीत चुका है। संसार में रामराज्य की स्थापना हो चुकी है। **स्थान** : अयोध्या का राज-पथ। सब ओर बड़ी भीड़ है। तूर्यनाद और डिण्डिम-घोष सुनाई पड़ता है। एक राजकीय उद्घोषक जोर-जोर से घोषणा करता हुआ आता है, भीड़ उसे घेर लेती है।]

उद्घोषक : सप्तद्वीपवती ससागरा वसुन्धरा के एकच्छत्र सम्राट् राजराजेश्वर मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम के महामात्य श्रीसुमन्त्रदेव की आज्ञा से मेरे जैसे अनेकानेक राजपुरुष सभी दिशाओं में घूम-घूमकर

महाराज के उद्देश्यों और आदर्शों की उद्घोषणा कर रहे हैं। महाराजाधिराज ने चौदह वर्षों तक वन में रहकर पितृभक्ति और सत्यनिष्ठा का अपूर्व आदर्श स्थापित किया है। लोकशत्रु रावण का वध कर शौर्य का अनुल्लंघनीय कीर्त्तिमान स्थापित किया है और परमपुण्यशीला प्राणाधिक प्रियतमा राजराजेश्वरी वैदेही को निर्वासित कर लोकाराधन की परमावधि सन्दर्शित की है। अश्वमेध के सत्र में उन्होंने सीता देवी की सुवर्ण-प्रतिमा के साथ यज्ञकर्म सम्पन्न कर एकपत्नीव्रत का अभूतपूर्व पुण्यादर्श जगत् में प्रतिष्ठित किया है। अपने कृतित्व से उन्होंने काल के पृष्ठों को ज्योतिर्मय बना दिया है। उनके द्वारा आयोजित यज्ञों के महासत्र का कल अन्तिम दिवस है, आप सब प्रजाजन उसमें सादर आमन्त्रित हैं।

[एक तेजस्वी ऋषि-कुमार का प्रवेश]

ऋषिकुमार : राजपुरुष! आपने राघवेन्द्र की महान् यज्ञ-परम्परा की उद्घोषणा तो की, पर उनके राज्य में अनुष्ठित महान् वाङमय यज्ञ की गौरवशाली सम्पूर्णता के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा।

उद्घोषक : वह क्या है ऋषिकुमार!

ऋषिकुमार : आश्चर्य है, आप यह नहीं जानते। महामात्य सुमन्त्र भी नहीं जानते? यदि किसी राष्ट्र के मन्त्री देश की सांस्कृतिक निधियों को न पहचानें, तो समाज का इससे बड़ा दुर्भाग्य दूसरा नहीं हो सकता। फिर तो अपूज्य की पूजा होगी, पूज्य की उपेक्षा होगी। आत्मविज्ञान, प्रदर्शन, पाखण्ड, चाटुकारिता की मुद्राएँ चलेंगी, जन-जीवन अन्तःसार-शून्य नैतिकता-विहीन हो जायगा।

राजपुरुष : ऋषिवर्य! भगवान् राम के राज्य में ऐसी कुकल्पना करने का साहस करते हैं, यही बड़ा अप्रीतिकर प्रसंग है। परम लोकाराध्य प्रभु राम के राज्य में उनकी प्रजा को निर्भय होकर अपने मन की प्रत्येक बात कहने का मौलिक अधिकार प्राप्त है, किन्तु प्रजा को भी तो अपने अधिकार का दुरुपयोग नहीं करना चाहिए। एक

दुर्मुख रजक के कारण हमारी महारानी का निर्वासन हुआ। अब आप क्या कहना चाहते हैं ?

ऋषिकुमार : (कुछ संकुचित होकर) हमलोगों ने गुरु के आश्रम में वाणी का संयम सीखा है, अनृत अथवा अप्रिय भाषण मुझे इष्ट नहीं। मैं केवल यह कहना चाहता था कि शासक-वर्ग को राष्ट्र की संस्कृति के उत्कर्षविधायक प्रयत्नों का ससम्मान परिज्ञान होना चाहिए। उसीका आपमें अभाव दिखाई पड़ा।

राजपुरुष : आप अपनी बात स्पष्ट रूप से सप्रमाण कहें, तभी मैं आपके आरोप का उत्तर दे सकता हूँ।

ऋषिकुमार : नौ हजार वर्षों के घोर तप की सिद्धि के रूप में महर्षि वाल्मीकि ने अपना रामायण महाकाव्य पूरा किया है। जिस राम-राज्य का आप प्रशस्ति-गान कर रहे हैं, उसे इस महाकाव्य ने आनेवाले युगों के लिए भी चिरस्थायी बना दिया है। क्या आपको इस महान् सारस्वत विश्वजित् यज्ञ के अनुष्ठान की पूर्त्ति का कुछ ज्ञान है ?

राजपुरुष : हमें इसकी पूरी जानकारी है, ऋषिकुमार! राष्ट्रवर्धन नामक हमारे प्रवर अमात्य राष्ट्र के समस्त सांस्कृतिक एवं नैतिक उत्कर्ष का उत्तरदायित्व वहन करते हैं। उनको सम्पूर्ण साम्राज्य के कवियों, कलाकारों, आचार्यों और विद्वज्जनों की गति-विधि का पूरा-पूरा ज्ञान है। महर्षि वाल्मीकि द्वारा 'मा निषाद' से आरम्भ्य अन्तिम श्लोक तक की उसकी रचना-प्रक्रिया की पूरी जानकारी उन्हें है। महर्षि वशिष्ठ द्वारा विशेष रूप से आमन्त्रित होकर कल के महोत्सव में महर्षि वाल्मीकि स्वयं पधारेंगे और उनके शिष्य उनके महाकाव्य का गान करेंगे।

ऋषिकुमार : क्षमा करें राजपुरुष! मैं यह नहीं जानता था। महर्षि वाल्मीकि के दो शिष्य अपने सतीर्थों के साथ रामायण-कथा का गान करते हुए विविध जनपदों को पारकर इधर ही आ रहे हैं।

राजपुरुष : कल रात्रि उस मण्डली ने नन्दिग्राम में निवास किया था, आज प्रात: उन्होंने नगर में प्रवेश किया है। वे इसी राजमार्ग से प्रासाद-वीथिका की ओर जायेंगे। उधर ही उनके आचार्य महर्षि वाल्मीकि ठहरे हुए हैं।

ऋषिकुमार : दो-तीन रात्रियों तक मैं भी उस मण्डली के साथ था। जनपदों में उनका गान शुष्क कण्ठ-समूह में अग्नि की तरह व्याप्त हो रहा है। सीता के चरित्र के गान ने जनपदों को विशेष रूप से द्रवीभूत कर दिया है। उनके प्रति अमार्जनीय अपराध हुआ है, यह चेतना जन-जन में व्याप्त हो गई है। एक दुर्वृत्त प्रजा के पाप को सब अपना अपराध मानने लगे हैं।

[दूसरे राजपुरुष का प्रवेश। वह अत्यन्त भाव-विभोर प्रतीत होता है।]

प्रथम राजपुरुष : आप भावाविष्ट-से किधर से आ रहे हैं? आपकी यह स्थिति कैसे हुई?

द्वितीय राजपुरुष : आज दो ऋषि-बालकों ने अयोध्या में प्रवेश किया है। वे वीणा पर हमारे महाराज की कथा का गान कर रहे हैं। यह गान पूर्ववर्त्ती आचार्यों के बताये हुए नियमों के अनुकूल है। उनका गान द्रुत, मध्य और विलम्बित तीनों गतियों से अन्वित है। वह गान सुनकर सभी श्रोता गद्गद-कण्ठ हो गये हैं और विस्मयविमुग्ध होकर साधुवाद देते हुए उनके पीछे-पीछे चल रहे हैं। वे दोनों कुमार इधर ही आ रहे हैं।

प्रथम राजपुरुष : वे किस प्रसंग का गान कर रहे थे।

द्वितीय राजपुरुष : वे प्रभु के वनवास का गान कर रहे थे। अयोध्या के प्रौढ नर-नारी प्रभु के आसन्न वियोग से उत्पन्न अपनी ही व्यथा की कथा सुनकर रो रहे थे। पौर नारियाँ उनपर मणि-रत्न लुटा रही हैं, पौरजन नाना प्रकार के उपायन लेकर उनके समक्ष अंजलिबद्ध होकर जाते हैं। पर, वे किसी वस्तु की ओर आँख उठाकर भी नहीं देखते।

[वीणा का मधुर स्वर निकट आता है। पहले गान का स्वर अस्पष्ट रहता है, फिर क्रमशः स्पष्ट सुनाई पड़ने लगता है :

इयं हि कस्यापि करोति किञ्चित्
तपस्विनी राजवरस्य पुत्री।
या चीरमासाद्य जनस्य मध्ये
स्थिता विसंज्ञा श्रमणीव काचित् ॥
चीराण्यपास्याज्जनकस्य कन्या
नेयं प्रतिज्ञा मम दत्तपूर्वा।
यथासुखं गच्छतु राजपुत्री
वनं समग्रा सह सर्वरत्नैः ॥
अजीवनार्हेण मया नृशंसा
कृता प्रतिज्ञा नियमेन तावत्।
त्वया हि बाल्यात् प्रतिपन्नमेतत्।
तन्मा दहेद् वेणुमिवात्मपुष्पम् ॥

द्वितीय राजपुरुष : देखो, दोनों कुमार निकट आ गये हैं। अब भी वन-गमन के प्रसंग का गान चल रहा है। स्वर्गीय महाराज हमारी महारानी देवी वैदेही को वल्कलवसना देखकर दुःखी हो रहे हैं।

प्रथम राजपुरुष : (साश्रु होकर)। कैसा कण्ठ! कैसे दिव्य भाव!

[लव और कुश वीणा पर गान करते हुए सामने आ जाते हैं। ब्रह्मचारी का वेष और शिर पर जटाएँ हैं। उनके पीछे चलनेवाले समवयस्क ऋषिकुमारों की मण्डली उनके स्वर में स्वर मिलाकर गान करती हुई चल रही है। गान चलता रहता है :

मृगीवोत्फुल्लनयना मृदुशीला मनस्विनी।
अपकारं कमिव ते करोति जनकात्मजा ॥

जनसमूह को जैसे काठ मार जाता है। सब स्तब्ध-दग्ध-मुग्ध-से पाषाण-मूर्त्ति-से गड़े-जड़े रह जाते हैं। एक वृद्ध दौड़कर कुमार लव के चरणों से लिपट जाता है।]

वृद्ध : ये वाक्य चक्रवर्त्ती महाराज दशरथ ने देवी कैकेयी से कहे थे, वह सारा दृश्य नेत्रों के सामने घूम रहा है। हमारी महारानी वैदेही को वल्कलवासिनी देखकर महाराज ने पश्चात्ताप की ज्वाला में अपने को दग्ध कर डाला।

[एक वृद्धा दौड़कर पास आ जाती है।]

वृद्धा : (रास्ता रोककर कुश के मस्तक पर हाथ फेरती हुई) वत्स ! तुमलोगों ने हमें हमारी महारानी के याद दिला दी है। हमलोगों ने उनके निर्वासन का अन्याय अपनी आँखों से देखा है। स्वर्गीय महाराज की तरह हम अपना शरीर भी नहीं त्याग सकीं ! ऐसी कुलिश-कठोर और हतभागिनी हैं हम !

वृद्ध : सौम्ये ! ऋषिकुमारों को आगे जाने दो। महारानी कौशल्या का प्रासाद निकट है। हमलोग साथ-साथ वहाँतक चलेंगे। हमारी राजमाता भी यह गान सुनें।

सबलोग : अवश्य, अवश्य। साधु! साधु !

[लव-कुश गाते हुए आगे बढ़ जाते हैं : 'इयं धार्मिककौशल्या मम माता यशस्विनी।'

[परदा गिरता है।]

चतुर्थ दृश्य

[**स्थान :** अयोध्या में सरयू-तट पर भगवान् राम के अश्वमेध यज्ञों की विशाल धर्मशाला। प्रातःकाल से ही स्नान-सन्ध्या से निवृत्त होकर समिधा-होम का कार्य पूरा कर अनेकानेक ऋषि, मुनि, देश-देश के राजा और राजन्य-वर्ग, वेदवेत्ता पण्डित, वैयाकरण, पौराणिक, वृद्ध ब्राह्मण, संगीताचार्य, छन्दःशास्त्र के ज्ञाता, ज्योतिर्विद्, दर्शन एवं कल्पसूत्र के विद्वान्, ब्रह्मवेत्ता, राजनयिक आदि यथास्थान बैठे हैं।

भगवान् राम यज्ञ-मण्डप के बीच विराजमान हैं, उनके वाम भाग में देवी वैदेही की सुवर्ण-प्रतिमा शोभित है। तीनों भाई भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न छत्र, चामर और व्यजन लिये हुए पीछे खड़े हैं। उनकी दाहिनी ओर वशिष्ठ, वाल्मीकि, विश्वामित्र, गौतम, शतानन्द और महर्षि विराजमान हैं। दाहिनी ओर महामात्य सुमन्त्र, मन्त्रिमण्डल के अन्य अमात्य, सचिव, सामन्तगण आदि बैठे हैं। धर्मशाला प्रजाजनों से भरी है। भगवान् राम के कुछ पीछे कौशल्या आदि राजमाताओं और उर्मिला आदि राजवधुओं तथा अरुन्धती आदि ऋषि-पत्नियों के बैठने का स्थान है। भगवान् के सामने कुछ ही दूर पर आसन्दियों पर कुश, लव और उनके साथी ऋषिकुमार बैठे हैं। लव और कुश वीणा पर रामायण का गान कर रहे हैं, श्रोता-समूह मन्त्र-मुग्ध है। जन-समूह भगवान् राम, महर्षि वाल्मीकि एवं दोनों किशोर गायकों का जय-जयकार द्वारा अभिनन्दन कर रहा है। दोनों किशोर गायक संगीत के मर्मज्ञ हैं, मधुर स्वरसम्पन्न एवं स्थान तथा मूर्च्छना के जानकार हैं। उन्होंने अकुण्ठ कण्ठ से महाकाव्य के बीस सर्गों का पाठ कर सबको मन्त्र-मुग्ध कर लिया है। ऋषि-मण्डली हाथ उठा-उठाकर उन्हें उपहार और आशीर्वाद दे रही है।]

महर्षि वशिष्ठ : वत्स ! तुम दोनों ने रागयुक्त ऐसा मधुर गान किया है कि सभी घटनाएँ प्रत्यक्ष-सी दिखाई देने लगी हैं। आशीर्वाद-स्वरूप तुम दोनों मेरा यह कलश ग्रहण करो।

विश्वामित्र : वत्स ! तुम दोनों मेरा यह दिव्य प्रभाव-सम्पन्न वल्कल-वस्त्र स्वीकार करो।

गौतम : मेरी ओर से यह कृष्णाजिन ग्रहण करो, कुमारो !

शतानन्द : तुम मेरा यह कमण्डलु लो, वत्स !

जाबालि : तुम मेरा यह सिद्धिप्रद आसन लो।

मार्कण्डेय : मेरी यह मौंजी मेखला ग्रहण करो। मैं अपनी दीर्घायु भी तुम्हें देता हूँ।

[इसी प्रकार कोई ऋषि जटा बाँधने की रज्जु देता है, कोई समिधा-रज्जु, कोई यज्ञपात्र और कोई वृसी। दोनों कुमार ऋषियों के दिये हुए उपहारों को

शिर झुकाकर पुलकित भाव से स्वीकार करते जाते हैं। गान चलता रहता है। अन्य ऋषिकुमार प्राप्त उपहारों को एकत्र कर रहे हैं।]

भगवान् राम : (**भरत से**) तात ! इन ब्रह्मवर्चस्वसम्पन्न ऋषिकुमारों को तुम बीस लाख स्वर्ण-मुद्राएँ तुरत प्रदान करो !

भरत : जो आज्ञा, देव !

कुश : देव ! अपने जीवन-निर्माता प्राचार्य महर्षि के इस महाकाव्य के नायक का दर्शन पाकर ही हम पूर्णकाम हो रहे हैं। हमारा एक-मात्र धन त्याग और तपस्या है। आपके द्वारा प्रदत्त इस धन का हमारे लिए कोई उपयोग नहीं। हमें जो उपहार चाहिए, वह इन महर्षियों ने दिया है।

लव : मर्यादापुरुषोत्तम ! यदि अनुमति हो, तो मैं भी कुछ निवेदन करूँ।

राम : (**प्रसन्नता से**) अवश्य कहो, वत्स !

लव : देव ! हमारे आचार्य के इस महाकाव्य का मूल्य धन से कदापि न आँका जाय। अच्छा तो यह हो, धन के द्वारा काव्य के मूल्यांकन की परम्परा ही न चले।

ऋषिमण्डली : साधु ! साधु !

राम : (**वशिष्ठ से**) गुरुदेव ! इन ऋषिकुमारों ने एक महान् काव्यादर्श के प्रति प्रतिबद्धता की माँग की है। ऐसा ही होना चाहिए।

वशिष्ठ : रामभद्र ! यह आदिकाव्य है—मानवीय महान् मूल्यों और मर्यादाओं का निरूपण काव्य की आधार-शिला है। काव्य के कर्त्ता, श्रोता एवं प्रतिपाद्य सभी के लिए इसके द्वारा एक महान् आदर्श का प्रवर्त्तन हुआ है।

विश्वामित्र : सौभाग्य से इस महाकाव्य के कर्त्ता महर्षि वाल्मीकि भी यहाँ उप-स्थित हैं। हम सब मिलकर उनका अभिनन्दन करें।

वाल्मीकि : महर्षि ! मैं आपके अभिनन्दन का पात्र नहीं हूँ। अभिनन्दनीय हैं ये श्रीराम। अपने आविर्भाव-काल से ही इन्होंने जिन सुख-दुःखों का सेवन किया है, उन्हीं का वर्णन मैंने इस महाकाव्य में योगधर्म और तत्त्वदृष्टि का अवलम्बन लेकर किया है।

वशिष्ठ : इसके पूर्व यह काव्य और कहीं सुना गया है ?

वाल्मीकि : देवर्षि नारद और सरस्वती की प्रेरणा से देवताओं की सभा में ब्रह्माजी ने मेरे मुख से इसे सुना था। उन्होंने पुलकित होकर कहा था—राघवेन्द्र राम के अतिरिक्त कोई अन्य पुरुष काव्य का नायक होने का अधिकारी नहीं है।

विश्वामित्र : यथार्थ है ! जब इतर जन काव्य के नायक बनाये जायेंगे, तब काव्य-परम्परा का निश्चय ही ह्रास होगा।

अरुन्धती : (खड़े होकर) इस महाकाव्य में सीता का चरित्र भी तो है। कल राजमाता कौशल्या देवी ने वैदेही की वनवास-यात्रा का प्रसंग सुना था। तब से वे उनकी स्मृति में आँसू बहा रही हैं।

वाल्मीकि : देवी ! मेरा महाकाव्य मुख्यतः सीता के ही महच्चरित्र का आख्यान है। मर्यादापुरुषोत्तम राघवेन्द्र के महच्चरित्र के मूल में सीता के अनन्य तप और परम त्याग की प्रतिष्ठा है।

अरुन्धती : राजमाता कौशल्या आपके महाकाव्य का वह अंश सुनना चाहती हैं, जिसमें सीता के चरित्र का चित्रण है।

वाल्मीकि : (लव-कुश से) अशोकवन में वन्दिनी सीता की पुण्य-गाथा का गान करो, वत्स !

लव, कुश : जो आज्ञा ! वीणा पर स्वर-सन्धान करते हैं, गीत में मानों विश्व की। करुणा साकार हो उठती है—

इयं सा धर्मशीलस्य जनकस्य महात्मनः।
सुता मैथिलराजस्य सीता भर्तृ दृढव्रता ॥

उत्थिता मेदिनीं भित्त्वा क्षेत्रे हलमुखक्षते ।
पद्मरेणुनिभैः कीर्णा शुभैः केदारपांसुभिः ॥

विक्रान्तस्यार्यशीलस्य संयुगेष्वनिवर्त्तिनः ।
स्नुषा दशरथस्यैषा ज्येष्ठा राज्ञो यशस्विनी ॥

धर्मज्ञस्य कृतज्ञस्य रामस्य विदितात्मनः ।
इयं सा दयिता भार्या राक्षसीवशमागता ॥

सर्वान भोगान् परित्यज्य भर्त्तृस्नेहबलात् कृता ।
अचिन्तयित्वा कष्टानि प्रविष्टा निर्जनं वनम् ॥

सन्तुष्टा फलमूलेन भर्त्तृशुश्रूषणापरा ।
या परां भजते प्रीतिं वनेऽपि भवने यथा ॥

सेयं कनकवर्णाङ्गी नित्यं सुस्मितभाषिणी ।
सहते यातनामेतामनर्थानामभागिनी ॥

कामभोगैः परित्यक्ता हीना बन्धुजनेन च ।
धारयत्यात्मनो देहं तत्समागमकाङ्क्षिणी ॥

नैषा पश्यति राक्षस्यो नेमान् पुष्पफलद्रुमान् ।
एकस्थहृदया नूनं राममेवानुपश्यति ॥

भर्त्ता नाम परं नार्याः शोभनं भूषणादपि ।
एषा हि रहिता तेन शोभनार्हा न शोभते ॥

दुष्करं कुरुते रामो हीनो यदनया प्रभुः ।
धारयत्यात्मनो देहं न दुःखेनावसीदति ॥

इमामसितकेशान्तां शतपत्रनिभेक्षणाम् ।
सुखार्हां दुःखितां ज्ञात्वा ममापि व्यथितं मनः ॥

क्षितिक्षमा पुष्करसन्निभेक्षणा या रक्षिता राघवलक्ष्मणाभ्याम् ।
सा राक्षसीभिर्विकृतेक्षणाभिः संरक्ष्यते सम्प्रति वृक्षमूले ॥

हिमहतनलिनीव नष्टशोभा व्यसनपरम्परया निपीड्यमाना ।
सहचररहितेव चक्रवाकी जनकसुता कृपणां दशां प्रपन्ना ॥

अस्याहि पुष्पावनताग्रशाखाः शोकं दृढं वै जनयन्त्यशोकाः ।
हिमव्यपायेन च शीतरश्मिरभ्युत्थितो नैकसहस्ररश्मिः ॥

[कौशल्या उठकर लव-कुश के निकट आ जाती हैं। उनको देखकर राम भी खड़े हो जाते हैं। मन्त्रिपरिषद् भी ससम्भ्रम उठकर खड़ी हो जाती है। सभासद भी खड़े होने का उपक्रम करते हैं, किन्तु श्रीराम सबको बैठे रहने का संकेत करते हैं।]

कौशल्या : (लव, कुश से) तुमने वधू वैदेही के रूप और शील का मर्म अपनी वीणा पर गाकर सुनाया। मेरा हृदय फटा जा रहा है। तुम दोनों कौन हो, मुझे बताओ !

लव, कुश : हम दोनों महर्षि वाल्मीकि के शिष्य हैं। पिता के संस्कार भी उनसे ही हमें मिले हैं।

कौशल्या : (वशिष्ठ से) कुलगुरु ! आप देखें, ये दोनों कुमारों की आकृतियाँ मेरे रामभद्र से बिलकुल मिलती हैं। वे बिम्ब से समुत्थित प्रतिबिम्ब जैसे प्रतीत होते हैं। केवल वर्ण का भेद है—इनका वर्ण और कण्ठ-स्वर वधू वैदेही का स्मरण दिलाते हैं। महर्षि वाल्मीकि से पूछिए, ये बालक कौन हैं !

वाल्मीकि : देवी ! मैं इनका क्या परिचय दूँ, ये स्वयं अपना परिचय दें।

कौशल्या : (लव, कुश से) वत्स ! आओ मेरे हृदय से लग जाओ ! बोलो, तुम्हारे इस काव्य की अधिष्ठात्री मेरी प्यारी वधू वैदेही कहाँ हैं ? (पयोधरों से स्तन्य झरने लगता है) तुम्हें देखकर मेरी वही दशा हो रही है, जो वन से लौटे हुए राम को देखकर हुई थी। क्या तुम मेरी मैथिली के पुत्र हो ! सीता कहाँ हैं, वत्स ! महर्षि वाल्मीकि ! हमें सीता चाहिए, उनसे मुझे मिलाइए।

प्रजातन्त्र : **(समवेत स्वर में)** हमें हमारी महारानी चाहिए। देवी सीता को वन से लौटाइए।

वाल्मीकि : आप धैर्य धारण करें, आपकी महारानी मिलेंगी।

वशिष्ठ : प्रजाजन महर्षि बाल्मीकि के वचन पर विश्वास करें।

विश्वामित्र : महर्षि वाल्मीकि का यह काव्य राम-सीता को प्राप्त करानेवाला है, युग-युग के प्रजाजन इसमें निष्ठा रखें।

महर्षिगण : यथार्थ है—

वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे।
वेदः प्राचेतसादासीत् साक्षाद् रामायणात्मना।

[सब लोग महर्षि वाल्मीकि की जय बोलते हैं, परदा गिरता है।]

माध्यम से मूल्य-बोध की सांस्कृतिक आवश्यकता को निरन्तर विकसित किया गया है। सम्पूर्ण संकलन कृतिकार के व्यक्तित्व के गहरे आत्म-मंथन का नवनीत प्रतीत होता है, जिसे शब्द-ज्योतियों से अभिमण्डित कर उसने परम्परा को प्रयोगों की भूमिका में लाकर खड़ा कर देने का प्रयत्न किया है। परिणामतः मूल्य-बोध के साथ प्रतिबद्धता का गतिमान स्वरूप संकलन में स्पष्ट है।

साहित्य और अभिनेयता के मणिकांचन योग की सिद्धि ने प्रस्तुत संकलन की उपादेयता द्विगुणित कर दी है। समग्रतः प्रस्तुत संकलन की उपलब्धि मूलतः उसके विगत को प्रसंगानुकूल बनानेवाली प्रक्रिया में निहित है। समसामयिक साहित्य के प्रति बढ़ते हुए आकर्षण की भूमिका कालजयी कृति 'अग्नि-परीक्षा' का अपना विशिष्ट स्थान है। हिन्दी-एकांकी प्रयोगों के जिस कलिल में फँस गया है, उसे उससे निकाल कर बाहर खड़ा कर देने में वस्तुतः यह संकलन समर्थ सिद्ध होगा। इन एकांकियों में जिन शाश्वत जीवन-मूल्यों का कलात्मक अवबोध प्रस्तुत किया गया है, वे वर्तमान के लिए प्रकाश-स्तम्भ और भविष्य की आशा हैं। यथार्थ की भूमि पर विकसित आदर्श की ऐसी ऊर्जस्वित अभिव्यक्ति समसामयिक साहित्य में नितान्त दुर्लभ है। संग्रह का प्रत्येक एकांकी आस्था का महाकाव्य है।